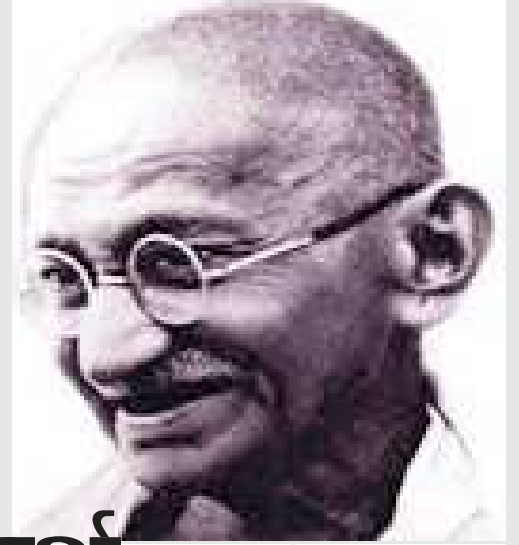
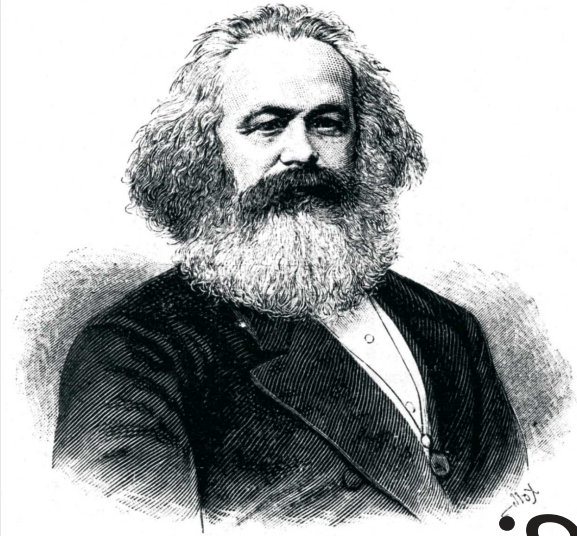


# अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र सर्वोदय जगत

वर्ष-40, अंक-20, 1-15 जून, 2017



## क्रांति-विमर्श



## संपूर्ण क्रांति : प्रासंगिकता और चुनौतियां

“ मेरे लिए तो मनुष्य ही सभी वस्तुओं का पैमाना है। धर्म, विचारधारा, राज्य, विज्ञान, यंत्र, विद्या, कला सब मनुष्य के लिए ही है, इसलिए स्वयं मेरे जीवन का लक्ष्य संपूर्ण क्रांति का ही रहा है। अब तक इतिहास में जो भी क्रांतियां हुई हैं, वे राजनीतिक क्रांतियां हुईं, हिंसा के द्वारा हुईं, अब हम चाहते हैं कि भारत में गांधी के रास्ते, अहिंसा के द्वारा संपूर्ण क्रांति हो।...जिसने सपना देखना छोड़ दिया हो, वह कभी क्रांति नहीं करता।”

-जयप्रकाश नारायण

## सर्व सेवा संघ

(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)  
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रांति का पाक्षिक मुख-पत्र

# सर्वोदय जगत

सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष : 40, अंक : 20, 1-15 जून, 2017

प्रधान संपादक

**बिमल कुमार**

मो. : 9235772595

संपादक

**अशोक मोती**

मो. : 9430517733

संपादक मंडल

डॉ. रामजी सिंह भवानी शंकर 'कुसुम'

संपादकीय कार्यालय

**सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र**

राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)

फोन : 0542-2440-385/223

ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com

Website : sssprakashan.com

## शुल्क

|         |   |            |
|---------|---|------------|
| मूल्य   | : | 05 रुपये   |
| वार्षिक | : | 100 रुपये  |
| आजीवन   | : | 1000 रुपये |

खाता संख्या : 383502010004310

IFSC No. UBIN-0538353

Union Bank of India

Rajghat, Varanasi

## इस अंक में...

|  |    |
|--|----|
| 1. कारपोरेटी खादी-एक नया षड्यंत्र...   | 2  |
| 2. स्वराज्य के लिए त्याग...            | 3  |
| 3. अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया...      | 5  |
| 4. लेनिन की भविष्यवाणी और...           | 9  |
| 5. क्रांति का दिशा-बोध...              | 13 |
| 6. क्रांतिकारी लोकशक्ति का निर्माण...  | 17 |
| 7. सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष का पत्र... | 20 |

## संपादकीय

# कारपोरेटी खादी-एक नया षड्यंत्र

**गांधीजी** की मानवता को और विश्व को जो मौलिक देन हैं, उन्हें नष्ट करने तथा भ्रष्ट करने के प्रयास अब खुलेआम किये जा रहे हैं। सत्याग्रह के विचार एवं सत्त्व का कोई विकल्प सोचा भी नहीं जा सकता था। किन्तु उसकी जगह एक नये शब्द 'स्वच्छाग्रह' को भक्तों व अनुयायियों के बीच बिठाने की कोशिश की गयी। अब अनुयायियों एवं विदूषकों का काम है कि वे 'स्वच्छाग्रह' शब्द को जन-मानस में बिठाने का काम करें। ये नये 'मसीहा' की देन है।

सत्ता प्रतिष्ठान के प्रोत्साहन से एक और प्रयास सामने आया है। खादी को कारपोरेट जगत की गोद में बिठाने का। रेमन्ड कम्पनी ने 22 मई, 2017 को 'खादी बाई रेमन्ड' को खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग के साथ साझेदारी में लांच किया। रेमन्ड के चेयरमैन व प्रबन्ध निदेशक गौतम हरि सिंहानिया ने यह भी कहा कि इस पहल के हिस्से के रूप में रेमन्ड पूरे भारत से खादी के किस्मों को खरीदेगी और इन्हें अंतिम फिनिशिंग प्रक्रिया के लिए मैनुफैक्चरिंग संयंत्र भेजेगी। कम्पनी पूरे देश के खादी मैनुफैक्चरिंग क्लस्टर्स में तकनीकी विशेषज्ञता भी लायेगी।

अर्थात् खादी अब पूंजीवाद व पूंजीवादी बाजार का विकल्प बन सकेगी, इसकी संभावना जड़ से ही समाप्त की जा रही है। क्रांतिकारी खादी का स्थान अब राजसत्ता आश्रित एवं पूंजीवाद की इकाई के रूप में पनपने वाली खादी ले रही है। राजसत्ता के आश्रय तले खादी अपने क्रांतिकारी कार्य को बढ़ाती रहेगी, ऐसा जिन्होंने सोचा था, उनकी सोच पूरी तरह से गलत साबित हो रही है। एन.जी.ओ. कैसे काम करते हैं, अभी यह चर्चा का विषय नहीं है क्योंकि उनका तो जन्म ही राजसत्ता एवं पूंजीसत्ता के गठजोड़ से होता है, किन्तु यह दिखाते हुए कि वे राजसत्ता एवं पूंजी की सत्ता से अलग हैं, इसी कारण बहुत हद तक वे परिवर्तनकारी जमातों में भ्रम फैलाने में सफल रहे हैं। किन्तु अभी तो हम चर्चा कर रहे हैं गांधी के वैकल्पिक रचनात्मक कार्यक्रमों की। सत्याग्रह एवं रचनात्मक कार्यक्रम मिलकर नैतिक लोकसत्ता के आधार बनने थे।

सत्याग्रह से विलग कर रचनात्मक कार्यक्रमों के चलाने की शुरुआत कब और क्यों हुई, इस पर भी अहिंसक क्रांति के ध्वजवाहकों को विचार करना चाहिए। क्योंकि जब रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह से अलग हो गये, तो इन्हें पूंजीवाद का विकल्प बनने तथा उसे चुनौती देने की संभावना रचनात्मक कार्यक्रमों में कम से कमतर होती चली गयी। ऐसे ही दौर में पूंजीवाद प्रयोजित संस्थाओं (जैसे NGOs) ने भी रचनात्मक कार्यक्रम चलाने का पाखंड शुरू किया। और, अब स्थिति यहां तक पहुंच गयी है कि खादी पूंजीवाद की गोद में संरक्षित होकर अपने विस्तार को अंजाम दे सकेगी, यह मानसिकता बनायी जा रही है।

सरकारी खादी और पूंजीवाद की गोद में बैठने वाली खादी का पूर्ण बहिष्कार करना होगा। अहिंसक क्रांति के व्यापक कार्यक्रमों को चलाना होगा, उन्हें धार देनी होगी। उस व्यापक क्रांतिकारी दृष्टि के अंतर्गत सत्याग्रह एवं रचनात्मक कार्यक्रम के सघन प्रयोग करने होंगे। आज लोकसत्ता निर्माण के सभी स्रोतों एवं आधारों को खत्म किया जा रहा है। लोक-आंदोलन, लोक-शक्ति का निर्माण तथा लोकसत्ता की स्थापना की दिशा में सत्याग्रह एवं रचनात्मक कार्यक्रमों का अभियान बढ़ाना होगा। प्राकृतिक स्रोतों व प्रकृति प्रदत्त जीवन आधारों से जिन समुदायों को बेदखल किया जा रहा है या जिनका शोषण हो रहा है, वे समुदाय इस क्रांतिकारी परिवर्तन के सामाजिक आधार होंगे।

राजसत्ता एवं पूंजीवाद के बीच के गठजोड़ के कारण लोक की स्वायत्तता एवं देश की सम्प्रभुता भी अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के हाथों गिरवी रखी जा रही है। लोक की स्वायत्तता एवं देश की सम्प्रभुता को वैश्विक पूंजी की गुलामी से बचाने में जो ताकतें सहयोग दें, वे भी इस आंदोलन के व्यापक आधार समूह का हिस्सा बनेंगी। इस व्यापक रणनीति को अपनाते हुए संघर्ष तेज करने की आवश्यकता है।

बिमल कुमार

## क्रांति सिर्फ हिंसा से नहीं होती

मार्क्स और गांधी की क्रांतिकारी विचारधाराएं विश्व की अनमोल विरासत हैं। ये दोनों काल-पुरुष हैं।

मार्क्स को हम इसलिए याद करते हैं कि वह पहला व्यक्ति था, जिसने शोषण-मुक्ति का प्रथम दर्शन हमें दिया। उसने क्रांति का आधार सर्वहारा को माना क्योंकि वही सबसे अधिक शोषित था। मार्क्सवादी क्रांति का उद्देश्य सर्वहारा के हिंसक विद्रोह द्वारा राजनैतिक सत्ता पर अधिकार, सर्वहारा की तानाशाही से क्रांति विरोधियों का दमन, साधनों पर राज्य का स्वामित्व और दंड-व्यवस्था के बल पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना था। किन्तु रूस के उत्थान व पतन दोनों ही हमने देखे। रूस या चीन में तानाशाही जनता की छाती पर खड़ी है और मार्क्स का कथन—‘स्टेट वील वीदर अवे’ या उसकी स्टेटलेस सोसायटी की कल्पना आकाश कुसुम की तरह हवा में है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब मार्क्स अपने विचार को पुष्ट कर रहा था ठीक उसी काल में हम गांधी को दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ और भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ मार्क्स के विपरीत निहत्थी जनता को ‘सत्याग्रह’ का अहिंसक हथियार थमा उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते पाते हैं। गांधी को दुनिया इसी अद्भुत अहिंसक-क्रांति के लिए याद करती है। मार्क्स-लेनिन ने कहा ‘दुनिया के मजदूरों एक हो’ गांधी ने कहा ‘दुनिया के सब मनुष्य एक हो जायें।’ किन्तु सही साध्य के लिए शुद्ध साधन क्यों जरूरी है तथा स्वतंत्रता के बाद सत्ता में न जाना दुनिया के किसी क्रांतिकारी ने गांधी से पहले नहीं दिखाया। अंततः गांधी की चिन्ता एक ही रही कि सत्ता के संरक्षण में जनता को अपना ‘स्वराज’ बेचने को मजबूर न होना पड़े या उसके प्रतिकार की शक्ति क्षीण न हो जाये।

पिछले 50-60 वर्षों में पूरी दुनिया सहित भारत ने भी देखा कि राज्य हिंसा इतनी प्रबल है कि आगे जनता उससे मुक्ति तो सोच भी नहीं सकती। किन्तु गांधी के अनुयायी जेपी ने गांधी की बात की—राज्य की हिंसा से मुक्ति के लिए सब मनुष्यों को एक हो जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य-मनुष्य के एक होने से जनशक्ति प्रबल होगी तो उससे राज्य शक्ति का लोप होगा। 1974 में जेपी ने आमजन के द्वारा प्रतिकार के हथियार का इस्तेमाल कर भयविहीन लोकतंत्र को बचा लिया।

कुछ ही समय पूर्व एक मार्क्सवादी एक्टिविस्ट से आमना-सामना हुआ। उन्हें श्वेत-सलाम नहीं सिर्फ लाल-सलाम चाहिए। उनका स्पष्ट मानना है कि क्रांति हिंसा के बिना हो ही नहीं सकती। ऐसी सोच वाले पूरी दुनिया में और इस देश में भी कई हो सकते हैं।

इसी भ्रम को दूर करने के लिए हमने ‘सर्वोदय जगत’ के इस अंक को ‘क्रांति-विमर्श’ अंक बनाया है और इस बात को विभिन्न गांधीवादी विचारकों व अहिंसक क्रांति-वाहकों के विचारों से यह पुष्ट करने की कोशिश की है कि दुनिया में अभी तक जो भी क्रांतियां हुई हैं वे सब अपूर्ण थीं। इसलिए जेपी ने गांधी के अहिंसक क्रांति के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए उसे ‘संपूर्ण क्रांति’ की संज्ञा दी। गांधी की तरह उन्होंने भी शुद्ध साधन का इस्तेमाल किया तथा सत्ता से दूर रहे। इस अंक को पढ़कर मुझे पूरा विश्वास है कि अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया लोगों को भलीभांति समझ में आयेगी और वे पूरा विश्वास भी करेंगे—‘क्रांति सिर्फ हिंसा से नहीं होती।’

—अशोक मोती

## स्वराज के लिए त्याग

□ महात्मा गांधी



मुझे से जब मुजफ्फरपुर में विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण देने को कहा गया तो मैं किसी भी प्रलोभन के बिना राजी हो गया; क्योंकि मुझे याद है कि जब मैं अपना चम्पारण का कार्य शुरू करने आया था तो पहले दिन मुजफ्फरपुर के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देने का

सुअवसर, मैंने तत्काल यह सोचकर स्वीकार लिया कि इस समय, जब मुझे भारत के विद्यार्थी समुदाय से बहुत ज्यादा मदद की जरूरत है, यहां के विद्यार्थी शायद मुझे मदद पहुंचायेंगे। आप मुझे 1920 की याद दिला देते हैं। निश्चय ही वे बड़े शानदार दिन थे, निश्चय ही उन दिनों देश में, राष्ट्रीय चेतना का जो प्रखर उभार दिखायी देता था, वह अब दब गया है, लेकिन उस आंदोलन का असर अब भी बाकी है। यदि आप उस जोश के उभार को बनाये नहीं रख सके हैं, तो केवल आप ही उसके लिए दोषी नहीं हैं। स्वाभाविक ही है कि मैं देश की बदली हुई परिस्थितियों में, आप लोगों से वही काम करने को नहीं कहूंगा; पर मैंने तब स्वतंत्रता संघर्ष का जो रास्ता सुझाया था, वही अब भी भारतीयों द्वारा अपनाने योग्य सर्वोत्तम रास्ता है। यदि आप उस रास्ते पर बहुत लम्बे समय तक नहीं चल सके, तो उसके लिए शर्मिन्दा होने की जरूरत नहीं है। मुझे इस बात पर आश्चर्य नहीं है कि आप आगे कूच करते हुए रुक क्यों गये, बल्कि देश की हालत देखते हुए मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि उन दिनों आप इतना आगे बढ़ ही कैसे सके थे। जो कार्यक्रम मैंने बताया था, यदि वह असल में लाया जा सकता तो सफलता मिलने में सन्देह ही नहीं था, लेकिन अब मैं तब तक उस कार्यक्रम के अनुसार काम करने के लिए आपसे नहीं कहूंगा, जब तक कि उसके लिए उपयुक्त अवसर नहीं आ जाता। लेकिन इस बीच मुझे आपसे एक काम करने को कहना है और वह है खदर का काम। बड़े-छोटे, अमीर-गरीब, विद्वान-मूर्ख, विद्यार्थी या सरकारी कर्मचारी सभी लोग आसानी से इस

काम में जुटकर इसे सफल बना सकते हैं। विद्यार्थी समुदाय इस काम के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है।

पंडित मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय में दृष्टांत प्रस्तुत करके आपका मार्गदर्शन कर दिया है। कल ही हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने मुझे एक हजार रुपये की थैली भेंट की है। आपने जो थैली भेंट की है वह मुजफ्फरपुर के विद्यार्थियों की संख्या को देखते हुए, उससे बहुत कम है। मैं विद्यार्थियों से आशा रखता हूँ कि वे अपनी सारी आर्थिक और शारीरिक शक्ति से आंदोलन की सहायता करेंगे। मुझे आशा है कि मुजफ्फरपुर के विद्यार्थी देश के अन्य भागों के विद्यार्थियों से पीछे नहीं रहेंगे। आप न सिर्फ आज के दिन ही धन से सहायता करेंगे अपितु मुझे आशा है कि आप अपने जेब खर्च से कुछ बचाते ही रहेंगे और नियमित रूप से आंदोलन की सहायता करते रहेंगे। आप लोग प्रांतीय खादी संगठन के मुख्यालय में रह रहे हैं; इसलिए आपको खदर के काम के सभी पहलुओं को सीख लेना चाहिए और अपने अवकाश का समय भी इस काम में लगाना चाहिए। मैं तो आपसे कहूँगा कि आप प्रतिदिन कम से कम आधा घंटा सूत भी कातें। आप अपने लिये, पैसा कमाने के लिए नहीं, बल्कि गरीब और बेकार ग्रामीणों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए सूत कातें। परंतु यह सब कुछ आप तभी करे जब आपकी खादी में श्रद्धा हो। वैसी श्रद्धा प्राप्त करने के लिए आप मुझसे या अन्य किसी व्यक्ति से खादी का अर्थशास्त्र समझ लें।

यदि आप मानव हैं तो आप में अपने आसपास के मनुष्यों के प्रति सहानुभूति अवश्य होनी चाहिए। यदि आप में भाईचारे की इतनी भी भावना नहीं है, तो आप स्वराज पाने की आशा कैसे कर सकते हैं? भारत के सच्चे सपूत होने के नाते, आपका यह कर्तव्य है कि आप उन सब वस्तुओं को अस्वीकार कर दें, जो प्रत्येक भारतीयों को उपभोग के

लिए सुलभ नहीं हो पाते पाती। पर मैं आपको ऐसा करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि आप खादी खरीदें और इस तरह हजारों बेकार देशवासियों और महिलाओं को काम और भोजन दें। विद्यार्थियों पर खादी पहनने का प्रतिबंध नहीं है।

जब राजगोपालाचारी को मद्रास के एक सरकारी कॉलेज में खदर पर बोलने के लिए आमंत्रित किया गया तब वे किस तरह प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों की सहायता से उस कॉलेज में खादी संघ चलाने में सफल हुए। आशा प्रकट है कि मुजफ्फरपुर में भी उस कॉलेज के दृष्टांत का अनुसरण किया जायेगा। खदर की अर्थ-व्यवस्था के सिद्धांत को समझने के लिए पुरस्कृत निबंध का पढ़ना आपके लिए लाभदायक होगा। मुझे आशा है कि पुस्तक को पढ़ चुकने के उपरांत खादी में आपकी आस्था हो जायेगी।

खदर पहनने के विरोध में केवल एक आपत्ति रह जाती है और वह है फैशन और आराम के प्रति मोह। मैं आपसे पूछता हूँ कि यदि आप देश के लिए इतना छोटा-सा त्याग भी नहीं कर सकते, तो स्वराज पाने की आशा कैसे कर सकते हैं? आप सभी विद्यार्थियों से इसी स्थान पर निष्ठापूर्वक यह प्रतिज्ञा करने का आग्रह करता हूँ कि आप सभी आज के बाद कभी सिवाय खादी के और कुछ इस्तेमाल नहीं करेंगे और यदि संभव हुआ तो अपने विदेशी कपड़ों को जला डालेंगे।

चूंकि यह विद्यार्थियों की सभा है, मैं एक और विषय के प्रति संकेत किये बिना इस भाषण को समाप्त नहीं कर सकता। वह विषय है ब्रह्मचर्य। मेरा विद्यार्थियों के साथ काफी संपर्क एवं संबंध रहा है। और मुझे इस बात का पता चला है कि विद्यार्थी समाज को चारित्रिक अधःपतन ने घेर रखा है। मैं इस संबंध में अपने विचार 'यंग इंडिया', 'नवजीवन' और 'आत्मकथा' में प्रकट करता रहता हूँ। परंतु मैं, आपका आगे और पतन न हो, इसलिए चेतावनी दे रहा हूँ। आप

लोगों के चरित्र में विकार का आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सारे देश का वातावरण भ्रष्ट विचारों से इतना भर गया है कि आप लोगों के लिए इसके प्रभाव से बचे रहना लगभग असंभव है। पाठ्य-पुस्तकें, सिनेमा, रंगमंच सब अनैतिकता के प्रभाव को फैला रहे हैं। यदि विद्यार्थियों को समय रहते चेतावनी न दी जाये, और आवश्यक सावधानी न बरती जाये, तो सारा देश नष्ट हो जायेगा। विद्यार्थियों को बचाने के लिए वीर स्वामी श्रद्धानन्द ने आधुनिक शहरी जीवन के आकर्षणों से बहुत दूर हिमालय की तलहटी में गुरुकुल की स्थापना की थी। संभव है उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं में दोष रहे हों, परंतु आदर्श ठीक है और इस आदर्श को नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

*कुछ एक बमों और कारतूसों की मदद से स्वराज प्राप्ति का प्रयत्न केवल पागलपन से भरा एक विचार है। इन साधनों से जो स्वराज प्राप्त किया जायेगा, वह देश के गरीब लोगों के लिए नहीं होगा। गरीबों के लिए स्वराज लेने का प्रभावपूर्ण साधन केवल खादी है।* इसीलिए मैं आपसे इस आंदोलन को सफल बनाने के लिए कहता आ रहा हूँ। आपको ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, जो सारी शक्ति का स्रोत है। केवल इस तरह, आप अपने आपको इस महान संघर्ष के लिए तैयार करने की आशा कर सकते हैं। भारत कर्मभूमि, धर्मभूमि और त्यागभूमि है। हिमालय इस तथ्य के साक्षी के रूप में खड़ा है। परंतु सब कुछ ब्रह्मचर्य के दृढ़ पालन पर निर्भर करता है। यदि आप एक बार फिर भारत में धर्म-राज्य की स्थापना करना चाहते हैं तो आपको सच्चाई, न्यायपरायणता और ब्रह्मचर्य की राह पर चलना होगा। ईश्वर के सिवाय अन्य किसी से डरना नहीं होगा और उसे अपना मित्र और पथ-प्रदर्शक समझकर बढ़ना होगा।

(25 जनवरी, 1927 को मुजफ्फरपुर के विद्यार्थियों की सभा में प्रस्तुत भाषण)



## अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया

### □ दादा धर्माधिकारी



क्रांति और सो भी अहिंसक?

ऐसा भी भला कभी संभव है?

और पलभर के लिए मान भी लें कि अहिंसक क्रांति संभव है, तो क्या हिंसक क्रांति की भांति उसकी कोई प्रक्रिया भी हो सकती है?

सवाल टेढ़ा है जरूर, पर टेढ़ा कहकर ही हम उसे टाल नहीं सकते।

जनवरी-फरवरी 1960 में यही सवाल आचार्य दादा धर्माधिकारी के सामने पेश किया गया और उन्होंने साधना-केन्द्र, काशी में एक माह तक लगातार इस पर भिन्न-भिन्न पहलुओं से विचार करके अपनी 'हितं मनोहारि' शैली में बताया कि अहिंसक क्रांति हुई है, हो सकती है और उसकी प्रक्रिया भी होती है। जरूरत है उसे समझने की और उसे अमल में लाने की। सत्याग्रही उपयुक्त समस्याओं को चुनकर इस प्रक्रिया के अनुसार समाज-परिवर्तन कर सकते हैं और जरूर कर सकते हैं। शर्त केवल इतनी ही है कि सत्याग्रही के मन में यह भान रहना चाहिए कि संघर्ष में से भी मनुष्य का मनुष्य के लिए सद्भाव ही निष्पन्न होगा। —सं.

सर्वोदय जगत

हमारे सामने सबसे पहला सवाल यह है कि हम समाज-परिवर्तन चाहते क्यों हैं?

पहली बात तो यह है कि मनुष्य को जो प्राप्त है, उससे वह हमेशा असंतुष्ट रहता है। बहुत दिनों तक अगर वह रेशमी कपड़ा पहनता रहे, तो सोचता है कि अब कुछ दिन सूती कपड़ा पहनें, तो अच्छा है। मैदान में रहने वाले हवाखोरी और स्थान-परिवर्तन के लिए पहाड़ पर चले जाते हैं और वहां कहते हैं कि यहां सृष्टि-देवी का सौन्दर्य अनुपम है, कितना रम्य स्थान है! लेकिन पहाड़ का आदमी कहता है कि मैदान देखा नहीं, वह बहुत ही खूबसूरत होगा। मनुष्य का स्वभाव-धर्म है कि वह परिवर्तन चाहता है, वस्तु-स्थिति से संतुष्ट नहीं रहता। यह असंतुष्टि निरंतर-सी है। अगर प्रगति जैसी कोई चीज है, तो उसका बीज इसी में है। यह असंतोष मनुष्य की प्रगति का जनक है।

**जड़ता या परिपूर्णता :** अब सोचिये कि ऐसी कौन-सी अवस्था है, जिसमें यह असंतोष न हो। दो जवाब हैं, या तो जड़ता होगी या परिपूर्णता। 'स वै मुक्तोऽथवा पशुः'—'या तो वह मुक्त होगा या पशु।'

इसके विपरीत, परिवर्तन से मनुष्य घबराता भी है। कल ही तो कृष्णमूर्ति ने कहा था कि "मनुष्य को सोचने में खतरा मालूम होता है, संकट मालूम होता है। डर लगता है कि कहीं अपनी स्थिति से हम खिसक न जायं। मनुष्य अपनी स्थिति से खिसकना नहीं चाहता, इसलिए वह परिस्थितियों के साथ और अपने-आपसे 'एडजस्टमेंट'—समझौता—कर लेता है। वह नुकसान में भी अपना फायदा देख लेता है। हानि में भी लाभ देख लेता है और दुःख में भी सुख मान लेता है। लेकिन यह समझौता मानसिक आलस्य का लक्षण है। मनुष्य विचलित नहीं होना चाहता। किसी तरह समय काटना चाहता है।'

इसके लिए कृष्णजी ने कल

'स्लिदरिंग' शब्द का प्रयोग किया था। अर्थात् जैसे लड़के पटिया पर से खिसकते और उछलते हैं, वैसे ही मनुष्य किसी तरह खिसक-उछलकर पार हो जाना चाहता है। वह समस्या को समझना नहीं चाहता।

यही आत्मतुष्टि या स्वयं-तुष्टि मनुष्य को जड़ बना देती है। तो, एक तो ऐसा मनुष्य है, जैसा पशु। पशु प्रकृति के अधीन है। इसलिए उसमें अपने जीवन के परिवर्तन की विशेष आकांक्षा नहीं है।

अब, सिद्धावस्था में परिणत ज्ञानी की क्या स्थिति होती होगी, इसका पता मुझे नहीं। कल्पना और अनुमान भी एक हद से आगे नहीं जा सकता। हां, पशु की अवस्था का अनुभव है। किसी तरह हम वक्त काटना चाहते हैं। जिन्दगी में आकर फंस गये हैं—इसको किसी तरह काट लेना है। ऐसा संतोष मान लेते हैं। लेकिन इस तरह का संतोष ठीक नहीं है। इससे मनुष्य का विकास नहीं होता।

इसी प्रकार निरंतर असंतोष भी एक ऐसी वस्तु है, जो जीवन में व्यग्रता पैदा करती है। उससे प्राप्त वस्तु के साथ उसका जीवन एकरस नहीं हो पाता। वह मनुष्य को आनन्द से वंचित कर देती है, व्यग्र रखती है। इसलिए यह नित्य-व्यग्रता भी नहीं होनी चाहिए।

**अहिंसक या अनासक्त चित्त :** सारांश, नित्य व्यग्रता भी न हो और स्वयं-संतुष्टि भी न हो, इस प्रकार का एक तटस्थ चित्त होना चाहिए, जिसे गांधी ने 'अनासक्त चित्त' कहा है। जो चित्त व्यग्र होगा, उसमें विकार पैदा होगा। व्यग्र चित्त में संतुलन नहीं रहता। जरा गहराई से सोचें, तो दीख पड़ेगा कि संतुलन रखने या साधने की चीज नहीं, वह तो अपने-आप आता है। जहां संतुलन साधना पड़ता है, वहां संतुलन रखने में ही मनुष्य की सारी शक्ति समाप्त हो जाती है।

एक आदमी तार पर चल रहा है, हाथ

में छाता लिये हुए है और संतुलन रख रहा है। उससे पूछिये, “क्या कर रहे हो?” तो वह कहेगा : “तार पर चल रहा हूँ।” आप पूछेंगे कि “क्यों चल रहे हो?” तो वह कहेगा : “चल रहा हूँ, इसलिए चल रहा हूँ।” “किधर चलने का लक्ष्य है? क्या इलाहाबाद जा रहे हो?” तो वह कहेगा : “कोई लक्ष्य नहीं। चलना ही है तार पर।” लेकिन क्या वह यह कहेगा कि “मैं संतुलन साध रहा हूँ?”

संतुलन रखने की चीज नहीं। वह अपने-आप आता है। तटस्थता जितनी होगी, उतना ही संतुलन होगा। आप संतुलन साधने की कोशिश करेंगे, तो जिन दो चीजों में उसे साधने की कोशिश रहेगी, वे नित्य सामने रहेंगी। जहां तटस्थता होगी, वहां व्यग्रता न होगी। नित्य असंतोष हो, तो व्यग्रता आती है। संतुलन के लिए जहां कोशिश करेंगे, वहां उसी के पीछे दौड़ेंगे। इस तरह संतुलन का अभ्यास नहीं हो सकता।

हमें समन्वय चाहिए, ‘रेजिमेंटेशन’ टकसाली जीवन नहीं। समन्वय का मतलब है, सबकी बात समझने की तैयारी।

हमारा चित्त ऐसा मुक्त हो कि वह सबकी बात समझने के लिए तैयार रहे। किसी की बात को दबाये नहीं। इसे हम उन्मुक्त, या ‘खुला’ चित्त कहते हैं। इसमें से समन्वय अपने-आप आता है। यह बहुत महत्त्व की चीज है। जो समझने के लिए तैयार नहीं होगा, उसे समझाने का भी अधिकार नहीं। आप अपनी बात समझाना चाहते हैं, इसका क्या मतलब है? दूसरे की बात समझने की तत्परता होती है, तभी समझाने का अधिकार आता है; दूसरे को समझाने के लिए तभी दावा कर सकते हैं। जिसे आप ‘अहिंसक क्रांति’ कहते हैं, वह समझने और समझाने की क्रांति है। हम पहले समझेंगे और बाद में समझायेंगे।

**विनयशीलता या तटस्थता :** हमें

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारा मुख्य साधन समझना और समझाना है। जब हम समझाने के लिए उपवास आदि अवांतर उपायों से काम लेते हैं, तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि दूसरा आदमी भी हमें समझाने के लिए इन उपायों से काम ले सकता है। आप कहते हैं कि “मैंने हजार बार समझाया, लेकिन इसकी समझ में ही नहीं आता, इसलिए अब समझाना-बुझाना छोड़, अपनी बात मनवाने के लिए दूसरे ऐसे उपाय से काम लूंगा, जिससे उसे किसी तरह की हानि न पहुंचे, कष्ट न हो।” लेकिन इससे पहले हमें सोचना चाहिए कि यदि मैं समझाने के लिए इस उपाय से काम लेता हूँ, तो समझने के लिए इससे काम क्यों नहीं लेता? हम अपनी बात दूसरे के गले उतारना चाहते हैं। उसे समझाने के लिए इन अवांतर उपायों से काम लेते हैं। कहते जरूर हैं कि मैं अपनी आत्मशक्ति बढ़ा रहा हूँ। लेकिन किसलिए— तो समझाने के लिए। किन्तु अहिंसा में अगर इन अवांतर साधनों का प्रयोग हो भी, तो वह अपनी समझने की शक्ति बढ़ाने के लिए होना चाहिए। हमें यह बहुत अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि समझने की शक्ति जितनी बढ़ती है, समझाने का अधिकार भी उतना ही प्राप्त होता है।

‘अधिकार’ शब्द संस्कृत का है। उसका मतलब है पात्रता। हिन्दी में अधिकार का मतलब ‘स्वामित्व’ कहां से आया, पता नहीं। हमें समझाने की क्षमता उस अनुपात में प्राप्त होती है, जिस मात्रा में हमने समझने की योग्यता प्राप्त की हो। आज क्या हो रहा है? हम समझाने की अधिक कोशिश करते हैं, समझने की कम। इसलिए हमारे दर्शन में भी अहिंसा नहीं आ पाती।

आज ‘अहिंसा’ शब्द ऐसा हो गया है कि उसके साथ बहुत-सी बातें मिल गयी हैं। उसका नाम लेते ही कई चीजें मन में खड़ी हो जाती हैं। बुद्ध, महावीर, गांधी, शाकाहार,

सत्याग्रह, अनशन आदि के सपने आ जाते हैं। इसलिए उस शब्द को अलग रख लें और ‘विनयशीलता’ या ‘तटस्थता’ शब्द ले लें। समाज-परिवर्तन में ऐसे उपायों से काम लेना चाहिए कि जिनमें समझाने की कोशिश कम और समझने की कोशिश ज्यादा हो।

**मानव अपवाद भी है, विभूति भी :** हरएक चाहता है कि मेरे दिमाग की दुनिया और इन्सान बने। अगर आपका तनय ऐसा इन्सान नहीं बन सकता, तो शिष्य बन सकता है। अगर मेरा तनुज मेरे मन के मुताबिक नहीं बन सकता, तो कम से कम मेरा आत्मज, मानस-पुत्र, मेरे मन के अनुसार, मेरे ढांचे का बने। अहिंसक क्रांति में इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम पहले से न सोच लें कि दूसरा आदमी हमारे ढांचे में ढले। हर व्यक्ति अपने में अपवाद भी है और अपने में विभूति भी। यह नहीं होना चाहिए कि हम उसे अपने ढांचे में ढालें।

हमारे एक मित्र हैं। पहले वे असेम्बली में थे। वैसे तो मुझसे छोटे हैं, लेकिन हैं बड़े होशियार। उन्होंने एक बार कहा : “आजकल आप किस दुनिया में रहते हैं? मैंने कहा : “मैं उसी दुनिया में रहता हूँ, जिसमें आप रहते हैं।” उन्होंने कहा : “क्या तुम जानते हो कि अब तो हम मनुष्य को भी विज्ञान से बनायेंगे। आंख की जगह आंख, नाक की जगह नाक, हृदय की जगह हृदय, मस्तिष्क की जगह मस्तिष्क—यह तो होता ही था; लेकिन अब तो मनुष्य ही बनायेंगे। अब आप क्या कहेंगे?” हमने कहा : “अगर हमें दुबारा बनाना हो, तो आप न बनाइये। जिस भगवान् ने हमें बनाया, उससे भी हमें शिकायत है। उसने हमें यह शरीर दिया। भीमकाय क्यों नहीं किया? मदन जैसा रूप क्यों नहीं दिया? गंधर्व की आवाज क्यों नहीं दी? वह तो सर्वशक्तिमान था। उसने हमें इतना भद्रा बनाया, तो क्या पता कि तुम कैसा बनाओगे? जितनी तुम्हारी अक्ल होगी उतनी

ही तो तुम बना पाओगे न?” विज्ञानवादी जैसे स्थूल भूमिका से मनुष्य और सृष्टि का निर्माण करना चाहता है, वैसे ही हम अध्यात्म से भी करना चाहेंगे, तो अनर्थ ही होगा। यह ‘रेजिमंटेशन’ टकसाली ढंग है।

**वशीकरण के गलत प्रकार :** आगे जो दुनिया होगी, उसमें मनुष्य को मनुष्य नहीं बनायेगा। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को बनायेगा, यह गलत चीज है। वैसे आज तो सभी एक-दूसरे को ‘बनाते’ ही हैं! एक ‘डिप्लोमेट’ (कूटनीतिज्ञ) दूसरे ‘डिप्लोमेट’ को बनाता है। ‘डिप्लोमैसी’ (कूटनीति) का अर्थ यही है कि मैं आपको बनाऊँ और आप मुझे। लेकिन जिस तरह की प्रक्रिया का प्रयोग हम करना चाहते हैं, उसमें यह चीज नहीं आ सकती। आप कहेंगे कि इसमें कोई हिंसा तो है नहीं, किसी को डराया-धमकाया नहीं, जबरदस्ती भी नहीं की। लेकिन किसी आदमी के भोलेपन, उसकी विश्वासपरकता से अगर हम लाभ उठा लेते हैं, तो वह धोखा है। इस तह शारीरिक और मानसिक स्तर पर किसी को बनाना हमारी प्रक्रिया में आ नहीं सकता।

इसी प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर भी मनुष्य मनुष्य को न बनाये। इस स्तर पर बनाने का एक प्रकार है—मैस्मरिज्म, सम्मोहन। किसी भी बड़े स्टेशन पर जाकर देखेंगे, तो डेल कार्नेगी की किताबें बिकती हैं। ‘हाउ टु इन्फ्ल्यूएन्स पीपुल?’ (लोगों को कैसे प्रभावित करें?) किसी की शादी करनी हो, तो लड़का या लड़की का वशीकरण कैसे करें? ये सब वशीकरण के उपाय हैं। सारा का सारा अथर्ववेद ‘मंत्र-विद्या’ है। जरण, मारण, उच्चाटन, वशीकरण के तावीज मिलते हैं। बीस-पचीस रुपये भेज दिये, तो वशीकरण का एक तावीज आ जायेगा।

ये सारे अमानुषता और पुरुषार्थहीनता के प्रकार हैं। इनमें नम्रता भी नहीं है। मर्दानगी और इन्सानियत भी नहीं। मर्दानगी इसलिए नहीं कि हम दूसरों को मूर्च्छित कर

देना चाहते हैं, सुला देना चाहते हैं, परास्त करना चाहते हैं। यह पौरुष नहीं है। वीरता दूसरे की वीरता खंडित करने में नहीं है। एक दीपक दूसरे दीपक को बुझा नहीं सकता। एक दीया दूसरे दीये को बुझाता हो, तो उसमें चिराग की तासीर, चिराग का लक्षण ही नहीं है। वीरता से वीरता पैदा हानी चाहिए। वीरता से अगर भीरुता पैदा होती है, तो वीरता ने अपना गुण छोड़ दिया, अपनी असलियत छोड़ दी। इसीलिए वीरता ऐसी न हो, जो भय पैदा करे। दूसरों के चित्त को अपने कब्जे में कर लेने वाली जितनी युक्तियाँ हैं, उनमें न मर्दानगी है, न इन्सानियत; न पुरुषार्थ है, न मानवता।

**अनाग्रह का मार्ग :** हम इसका प्रयोग करना नहीं चाहते, भले ही हमें सफलता न मिले। सफलता हमें व्यग्र कर देगी। व्यग्र एकाग्र से विरुद्ध है। फिर हमारा ध्यान समझाने की तरफ नहीं रहेगा, सफलता की तरफ ही रहेगा। जहाँ सफलता की तरफ ध्यान गया, वहीं समझाने की तरफ से ध्यान हट जायेगा। सफलता का विचार मनुष्य के मन में अधीरता पैदा कर देता है, फिर चित्त एकाग्र नहीं रहता और जहाँ एकाग्रता नहीं, वहाँ नम्रता, विनयशीलता हो नहीं सकती, समाज-परिवर्तन भी नहीं हो सकता। अगर इन रास्तों को छोड़कर दूसरे रास्ते से जाना है, तो उस रास्ते को जो जानने वाले हैं, उनके साथ ही जाना होगा। अलग रहने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। जिस रास्ते को हमने सही समझा, अपने में उस रास्ते से जाने की ताकत न पैदा हो, दूसरा रास्ता बनाना जरूरी हो, तो पहले से ही दूसरे पर ‘डबल मार्च’ करने वाले जो लोग हैं, उनके साथ ही जाना चाहिए। ‘अनाग्रह’ की बात यहाँ आती है।

‘आग्रह नहीं रखेंगे’, इसका मतलब क्या है? इसका इतना ही मतलब है कि आग्रह अपना होता है। किसी तत्त्व का नहीं।

विनोबा वेद से एक शब्द देते हैं—‘मम सत्यम्।’ यह असत्य का दूसरा लक्षण है, जब अपने संस्कारों को अलग रखा जाता है। अपनी बात को लेकर की बात नहीं समझी जा सकती। आग्रह हमेशा अहंकार के साथ जुड़ा होता है। जितनी अहंता होगी, उतना आग्रह होगा। मानव-समाज आज कैसी बौद्धिक और मानसिक अवस्था में पहुंच गया है? विज्ञान के कारण जीवन जितना सम्मिश्र हो गया है और मनुष्य का मन जिस स्तर पर पहुंच गया है, वहाँ इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं कि या तो ‘रेजिमंटेशन’ होगा या अनाग्रह। हर क्षण अपने में अनन्त है। अनन्त कोई काल नहीं हो सकता। ऐसा होगा, तो उसकी अवधि बंध जायेगी। क्षितिज को मर्यादित कर दें, तो वह चौहद्दी हो जायेगी। क्षितिज कहां है? यहाँ से क्षितिज यहीं दिखाई दे रहा है, तो वह यहीं है। हर क्षण अपने में अनंत है। इमर्सन का एक वाक्य है : ‘इटरनिटी इन्स्ट्रक्ट्स दी अवर, एण्ड दी अवर इन्स्ट्रक्ट्स इटरनिटी (क्षण में अनंत का संकेत है, और अनंत में क्षण का)। तो यह चीज बांधने की नहीं, समझने की है।

एक आदमी ने कह दिया कि “आपका पत्र आया, बड़ा आनंद हुआ।” पूछा : “क्या वैसा ही आनंद हुआ, जैसा परीक्षा में पास होने पर हुआ था?” उसने कहा : “उस वक्त भी आनंद हुआ था और अब भी हुआ है। कैसा आनन्द हुआ, यह पूछो मत, समझ लो।” कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो पकड़ लेनी चाहिए। अनाग्रह का मतलब अपने विचार में जितना अहंकार है, उसे बाद करते जायेंगे। अपने अहंकार में सफलता की यह आकांक्षा आती है कि यह काम मेरे हाथों होना चाहिए। कहते हैं, बेटे की शादी मेरे हाथों होनी चाहिए। उसके पीछे पड़े हैं कि “शादी कर लो, शादी कर लो, नहीं तो मैं मर जाऊंगा।” तो क्या फिर शादी नहीं होगी? लेकिन कहता है, “तब तो मैं नहीं रहूंगा।”

तो पूछा कि “फिर तुम्हीं शादी क्यों नहीं करते?” आप लोग इस पर हंसते हैं, क्योंकि ये बेवकूफी की बातें हैं! क्रांतिकारी भी इतनी बेवकूफी की बातें करता है! कहता है, “दुनिया मेरे हाथों बदलनी चाहिए।” भाई, तेरे हाथों ही क्यों? सफलता का आग्रह जितना कम होता है, अनासक्ति के कारण काम में उतनी ही उत्कटता आती है। हृदय काम के साथ एकरूप होता है। उसमें एकाग्रता आती है, व्यग्रता कम होती जाती है।

**भौतिक स्तर :** तो, शारीरिक और भौतिक स्तर पर मनुष्य को बनाने की आकांक्षा न रखें। सब मिलकर हर मनुष्य के स्वास्थ्य और आरोग्य के लिए परिस्थिति पैदा करें। लेकिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को गढ़ने की आशा करे, यह गलत चीज है। इसका संबंध औषधि, उपचार, शल्य-क्रिया इन सबसे नहीं है। इसका संबंध विज्ञान से है। लोग कहते हैं कि विज्ञान मनुष्य को बनायेगा, तो हम कहते हैं कि यह चीज गलत है। दूसरे एक अर्थ में भी गलत है। समझ लीजिये, मुझे हृदय की धड़कन हो गयी। हृदय ठीक से काम नहीं कर रहा है। बीच-बीच में रुकता है। एक डॉक्टर कहता है कि “एक दूसरा मनुष्य आज अभी-अभी मरा है, उसका हृदय हम आपके शरीर में लगा देते हैं।” लगा दीजिये। दूसरी दफा मेरा दिमाग खराब होने लगता है। डॉक्टर कहता है, “दूसरा दिमाग लगा देता हूँ।” लीडर के संपादक सी. वाई. चिन्तामणि के बेटे की खोपड़ी चांदी की लगा दी गयी। इसी तरह आज मानव में दूसरा दिल-दिमाग भी लगा दिया जाता है। लेकिन मैं कहता हूँ कि दिल ही लगाना चाहते हैं, तो फिर राणा प्रताप का लगा दें और दिमाग ही लगाना चाहते हैं, तो आइन्स्टाइन का लगा दें। यह अगर हो सकता है, तो ऐसा करने वाले पहले अपने ही शरीर में वह दिल और दिमाग क्यों नहीं लगवा लेते, जिससे उन्हें संत का हृदय और

प्रतिभाशाली मनुष्य का मस्तिष्क मिल जाय? अर्थात् यह आकांक्षा अपने में अधम आकांक्षा है, उत्तम नहीं। किसी के शरीर के स्वास्थ्य को ठीक कर देना है, वहां तक तो ठीक है। लेकिन उसके शरीर पर कब्जा नहीं करना चाहिए। यह हुआ पहला स्तर।

**वैज्ञानिक स्तर :** दूसरा स्तर, विज्ञान का उपयोग दूसरे की बात समझने के लिए अधिक हो, अपनी बात समझाने के लिए कम हो। आज सारा का सारा ‘प्रोपेगैण्डा’ (प्रचार) अपनी बात समझाने की कोशिश के लिए है, दूसरे की बात समझने की कोशिश के लिए नहीं। विनोबा कहते हैं : “प्रकाशन चाहिए, प्रसिद्धि नहीं।” प्रकाशन क्या करता है? अपनी बात के साथ दूसरे की बात को भी प्रकाशित करता है। एक चिराग दूसरे चिराग को जलाता है। लेकिन प्रचार अपनी आग जलाता है, पर दूसरे की ज्योति बुझा देता है। वह ठीक नहीं।

हम ‘रेजिमंटेशन’ न करें। अपनी बात दूसरों पर न थोपें। अवान्तर साधनों का उपयोग हम दूसरों की बात समझने के लिए करें, अपनी बात समझाने के लिए नहीं। नहीं तो हम एक अहिंसक रेजिमंटेशन बनायेंगे, जिसमें शस्त्र और सत्ता नहीं रहेगी। वह राज्य-निरपेक्ष, शस्त्र-निरपेक्ष रेजिमंटेशन होगा। वह भी हम नहीं चाहते। उसमें भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दूसरे पर कब्जा करना चाहते हैं। सूक्ष्म दबाव के तौर पर आपने उपवास कर दिया या किसी दूसरे ऐसे उपाय का प्रयोग किया, तो देखने में वह अहिंसक ही है, फिर भी वह मनवाने का उपाय है, समझाने का नहीं।

**धार्मिक स्तर :** तीसरा स्तर धर्म का आता है। धर्म के संबंध में हम क्या करते हैं? दो प्रकार के प्रयोग करते हैं। एक योग-विद्या का और दूसरा सम्मोहन-विद्या का। दोनों में चमत्कार है। आश्रय चमत्कार का है। मराठी भाषा में कहावत है : ‘चमत्काराशिवाय

नमस्कार नहीं।’—‘चमत्कार के बिना नमस्कार नहीं।’ आपके साधुत्व को मानने के लिए कोई तैयार नहीं, या तो आपमें चमत्कार की शक्ति हो या सम्मोहन की शक्ति।

एक पतिव्रता स्त्री अपने पति की सेवा में लगी हुई थी। उतने में एक बहुत बड़ा तपस्वी ब्राह्मण उसके दरवाजे पर अलख जगाता हुआ भिक्षा के लिए आया। लेकिन वह तो पति-सेवा में लगी थी, इसलिए भिक्षा देने में पांच मिनट देर हो गयी। ब्राह्मण शोला हो गया। वह आयी, तो बेचारे ने आंखें बंद कर लीं। झोली में भिक्षा ले ली और ऊपर देखा। पेड़ पर एक पक्षी बैठा था, वह मर गया। उसने कहा : “देवी, अगर मैं आपकी तरफ देखता, तो आपकी भी यही स्थिति होती।” उस तपस्वी ब्राह्मण की आंख में इतनी शक्ति थी! दूसरे दिन भी वह भिक्षा लेने आया। भिक्षा देने के बाद उस पतिव्रता स्त्री ने सूरज की तरफ देखा, तो सूरज छिप गया। यह देखते ही तपस्वी ने उसे नमस्कार किया और कहा कि “मैं हार गया। आपमें मुझसे ज्यादा शक्ति है!” एक कहता है कि “हमारे पास हाइड्रोजन बम है, तुम्हारा कुछ नहीं चलेगा।” तो दूसरा कहता है कि “मेरे पास स्पुतनिक है।” तो, वैज्ञानिक आविष्कार का चमत्कार हो या योग-विद्या का, सम्मोहन का चमत्कार हो या तो कुछ मैजिक, हिप्नाटिज्म, विचक्रैफ्ट—जंतर-मंतर—जैसा, या फिर धर्म की सत्ता हो। यह भी ‘रेजिमंटेशन’ की ही पद्धति है।

**आध्यात्मिक स्तर :** अंत में हम आते हैं आध्यात्मिक स्तर पर, जिसे लोगों ने वैचारिक प्रभुत्व (आइडिआलाजिकल डॉमिनेशन) कहा है। सारे विश्व पर मेरा विचार छा जाय। विश्व वैसा ही बने, जैसा कि मैं चाहता हूँ। यह तो मेरी ही कल्पना का विश्व बनाना हुआ न? भगवान् प्रसन्न हो गये। वरदान मांगा। बहुत अच्छा आलीशान मकान हो, बगीचा हो, मोटर हो, ड्राइवर हो, दो



रसोइये हों, हर घंटे सामने आकर हाथ जोड़कर खड़े हों। यह आपकी कल्पना का जगत् हुआ। फिर विनोबा से हम कहेंगे कि यहां रहने आओ, तो कहेंगे कि “यहां मेरी तो तबीयत ही नहीं लगती! मुझे जंगल में अच्छा लगता है, वहीं रहूंगा।” “तो क्या फिर हम आपके पास जंगल में आयें?” यहां दोनों का झगड़ा शुरू हो गया। दो नकशे बनाये। अब हर एक अपने-अपने नकशे में दूसरे को रखना चाहता है। इस तरह अध्यात्म के क्षेत्र में वैचारिक प्रभुत्ववाद होता है।

जब इस साधना-केन्द्र की बात आयी, तो शंकररावजी ने कहा कि जहां तक शारीरिक सुविधाओं का संबंध है, वे सबके लिए समान होंगी, सबको प्राप्त हो सकेंगी। इसका यह मतलब नहीं कि वे जबरदस्ती सबको प्राप्त करनी ही पड़ेंगी। उपभोग आवश्यक नहीं, सुलभता होनी चाहिए। इस तरह जितनी सुविधाएं हैं, सर्व-सुलभ होंगी, एक हद तक सबके लिए समान होंगी। इसके आगे समझौता नहीं होगा। जब हम कहते हैं कि रेजिमेंटेशन नहीं होगा और साथ-साथ यह भी कहते हैं कि विषमता भी नहीं होगी, तो ‘रेजिमेंटेशन नहीं होगा’ का मतलब होता है, हम दूसरे के शरीर का उपयोग उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकेंगे। अर्थात् कोई संस्था, समाज या राज्य भी किसी व्यक्ति का उपयोग नहीं करेगा। रेजिमेंटेशन के साथ ‘कान्स्क्रिप्शन’ भी आता है। ‘कान्स्क्रिप्शन’ का अर्थ है, जबरदस्ती सिपाही बनाना। युद्ध के समय हम कहते हैं कि हर व्यक्ति को सिपाही बनना ही पड़ेगा। किन्तु हम कहते हैं कि किसी मनुष्य के शरीर का उपयोग उसकी मर्जी के खिलाफ कोई नहीं कर सकेगा। इसकी हद कहां होगी? ‘क्रीचर कंफर्ट’ यानी स्वास्थ्य और शारीरिक उपभोग के लिए जितना काम आवश्यक है, सबके लिए समान होगा। इससे आगे ‘कान्स्क्रिप्शन’ नहीं।

### सामुदायिक पुरुषार्थ आवश्यक :

इस दिशा में हम जाना चाहते हैं। हम इस तरह समाज-परिवर्तन करेंगे, इसका मतलब इतना ही है कि हम अपने लिए ऐसी स्थिति, ऐसी भूमिका प्राप्त कर लेंगे। ‘हम’ कहने पर मैं अकेला नहीं रह जाता, सामाजिक पुरुषार्थ भी आ जाता है। विनोबा कहता है कि सामूहिक मुक्ति और सामूहिक पुरुषार्थ होना चाहिए। एक व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। सबको मिलकर करना चाहिए। सहकर्म, सहपुरुषार्थ और सहवीर्य होना चाहिए। जिस परिस्थिति का निर्माण करना हो, सब मिलकर करेंगे। परिस्थिति सबके लिए है, इसलिए उसमें स्थूल कर्म होना चाहिए, स्थूल पुरुषार्थ होना चाहिए। क्लेश और कष्ट सामुदायिक हैं, संकट सामुदायिक है, इसलिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक होना चाहिए। इसके समझने में कोई दिक्कत नहीं है। जैसे बाढ़ आती है, भूकम्प आता है, शहर में आग लग जाती है—इन सामुदायिक संकटों से बचने के लिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक ही चाहिए।

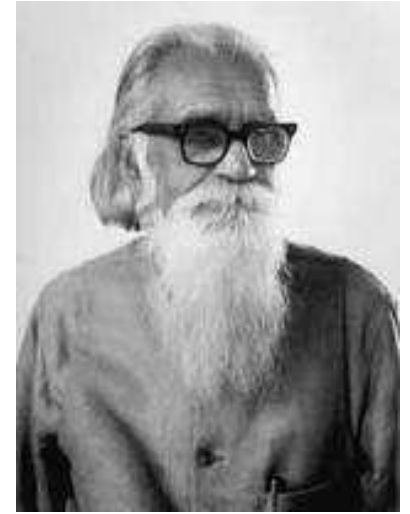
सामुदायिक पुरुषार्थ हो और रेजिमेंटेशन न हो, इसलिए वह पुरुषार्थ सर्व-सम्मत होना चाहिए। नहीं तो जो कम हैं, उन्हें उनकी बात माननी पड़ेगी, जो कि ज्यादा हैं। इसलिए यह जरूरी है कि सामुदायिक पुरुषार्थ सर्वसम्मति से हो। अल्पसंख्या पर बहुसंख्या की सत्ता न हो। बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझायें। समझाने के लिए पहले क्या करें? बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझें। जिस व्यवस्था में समझना और समझाना अधिक से अधिक होता है, वही ‘लोकतंत्र’ कहलाती है। व्यवस्था होगी, लेकिन वह विचार-विनिमय से होगी। ‘व्यवस्था’ के दो अर्थ हैं : ‘कन्क्ल्यूजन’ और ‘प्रोविजन’—‘निर्णय देना’ और ‘प्रबन्ध करना’।

21-1-1960

क्रांति-विमर्श

## लेनिन की भविष्यवाणी और जागतिक संकट

□ काका कालेलकर



जब कभी विद्यार्थियों के बीच जाता हूं, तब मेरे व्याख्यान के बाद प्रश्नोत्तरी के लिए गुंजाइश रखता हूं। मैंने देखा है कि व्याख्यान में जैसा एकतरफा व्यापार (One Way Traffic) रहता है, वैसा प्रश्नोत्तरी में नहीं होता है। प्रश्न पूछने वाले को सोचना पड़ता है और जवाब तो सोचकर ही देने का होता है। इसलिए प्रश्नोत्तरी में शंका-समाधान के लिए गुंजाइश रहती है, जो दोनों ओर विचार-जागृति में मददगार होने से तृप्तिदायक होती है।

इसके अलावा मेरे लिए विशेष लाभ यह है कि आजकल का जमाना क्या सोचता है, किस ढंग से सोचता है और उसे क्या चाहिए, इसका खयाल मुझे मिलता है, जो इन दिनों किसी दूसरे ढंग से मुझे मिलने की संभावना नहीं है।

□

एक दिन किसी ने पूछा :

“साम्यवाद के रशियन आचार्य लेनिन ने एक जगह कहा है, मास्को से पेरिस जाने का रास्ता पेकिंग, शंघाई और कलकत्ता होकर होगा।

“हम देखते हैं कि चीन ने रशिया से दीक्षा लेकर साम्यवाद का स्वीकार किया, साम्यवाद की यात्रा मास्को से पेकिंग तक आ पहुंची, तो क्या आपको नहीं लगता कि आइन्दा साम्यवाद की यात्रा अब भारत तक आने वाली है? अगर आप मानते हैं कि ऐसा नहीं होगा तो साम्यवाद की यात्रा में भारत आते विघ्न कौन-कौन से हैं?”

जब तक यह प्रश्न मैंने सुना नहीं था, तब तक साम्यवाद की यात्रा के बारे में लेनिन का भविष्य-कथन मैंने सुना नहीं था। मैंने कहा : “भविष्य-कथन कोई ज्योतिषी करे, सामुद्रिक करे या राजनीतिक भविष्यवादी करे, मेरे मन पर उसका असर नहीं होता। अखबारों में हवामान का भविष्य आता है कि अगले चौबीस घंटे में बिजली चमकेगी, मेघ गर्जना होगी और बारिश होगी अथवा आंधी आयेगी। ऐसे भविष्य के लिए आजकल के भडली (ऋतु और वर्षा की आगाही करने वाला) विज्ञान के पास काफी आधार होता है, तो भी कई दफा उनकी भविष्यवाणी सच नहीं निकलती। वैज्ञानिक भविष्य-कथन में भी कई तत्व अज्ञात होते हैं, जिससे अनुमान सच्चा सिद्ध नहीं होता।

“भविष्य-कथन पर विश्वास रखने वाले का जीवनक्रम धीरे-धीरे दयापात्र बनता है। स्वतंत्र ढंग से वह सोच नहीं सकता। मनुष्य बहम का शिकार बनता है, बहुत-सा आत्मविश्वास खो बैठता है। कभी-कभी इसके विपरीत भी हुआ है, लेकिन बहुत कम।

“लेनिन जैसे मनीषी और फलज्योतिषी में फर्क अवश्य है। इतिहास और अर्थविज्ञान के आधार पर वे कुछ न कुछ भविष्य-कथन करते हैं। लेकिन भोले अनुयायी (बहुत से

अनुयायी भोले ही होते हैं—कम-से-कम गुरु महाराज के वचनों के बारे में) मानते हैं कि जब लेनिन ने कहा, तब वह ऋषि वचन सच्चा साबित होगा ही। बेचारे लेनिन ने इतिहास का निरीक्षण करके जो उसको सूझा, एक सम्भाव्य घटना के तौर पर लिख दिया। लेनिन ने अतीन्द्रिय ज्ञान होने का कभी दावा नहीं किया। साम्यवादी कभी भी गूढ़ कथन पर विश्वास नहीं रखते।

“अब हम लेनिन के वचन को एक इतिहास के विद्यार्थी के तौर पर सोच लें।

“बर्लिन, पेरिस, लन्दन—ये तीनों शहर पश्चिम की औद्योगिक प्रगति के अगुआ हैं। पूंजीवाद और प्रजातंत्र के नेता लोग तीनों में पले हुए हैं। वहां तक अगर साम्यवाद पहुंच गया तो सारी दुनिया साम्यवादी हो गयी। लेनिन का कहना था कि जिन देशों की जनसंख्या सबसे अधिक है ऐसे देश हैं चीन और भारत। यहां साम्यवाद की स्थापना होने के बाद पूंजीवादी देशों के लिए, चरने के लिए, चरागाह ही नहीं रहेगा। जो रहेगा, उसकी विशेष कीमत नहीं रहेगी। इसलिए साम्यवादी बनाने की चेष्टा सबसे प्रथम करें। यूरोप के देश एशिया के इन दो प्रधान देशों को निचोड़ रहे हैं। इसलिए इन देशों का साम्यवादी बनना स्वाभाविक है। जब चीन और भारत साम्यवादी बनेंगे, तब पूंजीवादी दुनिया के सामने पीसने का कोई मसाला ही नहीं रहेगा।

“अगर साम्यवाद ही दुनिया के दर्दों का सच्चा इलाज है, तो लेनिन का सुझावा और अनुमान दोनों सही हैं।

“जब लेनिन ने ऊपर की बात कही, तब अगर उसकी चर्चा हमारे देश में होती, तो हमारे लोग कहते कि चीन देश कभी भी साम्यवाद को ग्रहण नहीं करेगा। चीन की आत्मा बौद्ध है, धर्म-परायण है। चीन के धार्मिक नेता कान्फ्यूशियस और लाओत्से हैं, इस बात को हम भूल नहीं सकते। ऐसे देश का साम्यवादी बनना नामुमकिन है। लेकिन

चीन तो साम्यवादी बन गया। पहले रशिया का शागिर्द बना और अब तो रशिया को भी सीख देने लगा है।

“जब साम्यवादी दल अल्पमति में था और समर्थ चांगू-काई-शेक का विरोध करता था, तब भी मैंने कहा था कि चीन का साम्यवादी बनना, न बनना, रशिया के नहीं, किन्तु अमेरिका के हाथ में है। दुनिया के सात-आठ राष्ट्रों ने चीन का खून चूसना शुरू किया। जिन्दे शरीर का खून चूसने वाली ये सब जोंके हैं। इनके बाद अमेरिका ने चीन में प्रवेश किया है। अमेरिका कहता है कि हम उनके जैसे नहीं हैं, सिखाने आये हैं, सेवा करने आये हैं, चूसने के लिए नहीं। अगर अमेरिका अपना यह दावा सिद्ध करता तो चीन अमेरिका का शिष्य बनता। अमेरिका ने चीन को सजीव होने के लिए निःस्वार्थ और पूरी सेवा नहीं दी। अमेरिका ने भी चीन को रशिया की ओर धकेल दिया। सामान्य जनता भोली होती है। मध्यमवर्ग ही जनता का नेतृत्व करता है। चीन का मध्यमवर्ग अध्यात्मवादी है या नहीं, मैं नहीं जानता। लाओत्से का अध्यात्म बहुत ऊंचा है। उसकी जड़ें समाज में पहुंचना मुश्किल है। कान्फ्यूशियस का उपदेश सुराज्य-स्थापना के लिए सबसे अच्छा है, लेकिन चीन में सम्राट का राज्य है, उसमें अगर कोई कमी है तो वह है सुराज्य की। चीनी जनता सहनशील है, इसलिए सम्राट का राज्य चल रहा है। राज्यतंत्र असह्य होने पर लोग पहले कान्फ्यूशियस का इनकार करेंगे, बाद में सम्राट का। जो हो, चीन का भाग्यविधाता सचमुच है सुन-यात-सेन। चीन की आत्मा उसमें प्रकट हुई है। वह जो करेगा सो होगा।” यह था मेरा उन दिनों का निदान।

केवल इतिहास का अध्ययन करने वाले लोगों को प्रश्न पूछने का अधिकार है कि जब सुन-यात-सेन का चीन साम्यवादी बन गया, तब भारत साम्यवादी नहीं बनेगा,

इसके लिए आपके पास सबूत क्या है? यहां की जनता भी भोली है। यहां पर भी हिन्दू राज्रू, पठान और मुगल राज्य और उसके बाद अंग्रेजी राज्य हुआ। इन सबों ने प्रजा को निचोने का काम कम नहीं किया। प्रजा को निचोने की नीयत किसी की भी कम नहीं थी। जिनके पास निचोने की कला कम थी, उन्होंने प्रजा को कम निचोया। अंग्रेजों की कला अधिक थी, कामयाब थी, इस वास्ते अंग्रेजों ने बड़ी ही खूबी से और सयानी निर्दयता से देश को निचोया। कहते हैं कि जब चूहा काटता है, फूंक-फूंककर काटता है, ताकि पता न चले। और जोंक जब लहू चूसती है, तब पता ही नहीं चलता है कि लहू चूसा जा रहा है और शरीर धीरे-धीरे फीका होता जा रहा है।

अब अगर मध्यमवर्ग प्रजा-सेवा की दीक्षा लेगा और संतों का फैलाया हुआ अध्यात्म गांधीजी की दीक्षा द्वारा नये ढंग से अपनायेगा तो भारत अपने ही स्थान में शोषण से मुक्त होगा और उसे साम्यवाद का चेला नहीं बनना पड़ेगा।

आज के नवयुवक, जो बड़े उत्साह से पश्चिम की विद्या सीख रहे हैं और नौकरी के द्वारा राज्यकर्ता या उद्योगपति बनना चाहते हैं, वे अगर भारतीय संस्कृति का नया स्वरूप पहचानेंगे और जनता को निचोने का काम बंद करके ग्रामीण जनता को सजीव करेंगे तो साम्यवाद की यात्रा पेकिंग और शंघाई तक आकर रुक जायेगी। कलकत्ता आ नहीं सकेगी। सचमुच तो साम्ययोग में विश्वास रखने वाले सर्वोदय को अपना घर मजबूत करके यहां से ही पेकिंग, मास्को, बर्लिन, पेरिस, वाशिंगटन, आक्रा और दारेसलाम-यात्रा शुरू करनी होगी। यह यात्रा विश्व-विजय की नहीं, किन्तु श्वि-सेवा, विश्व-शान्ति और विश्व-मैत्री की होगी।

आप पूछते हैं : “आगे क्या होगा?” मैं कहता हूं : “आप जो करेंगे, वही होगा। उम्मीद है कि आप भारत की परम्परा

समझकर भारत के नवजीवन का संदेश भारत को मजबूत करके दुनिया को देंगे।

“इतना याद रखिये कि भारत की प्राचीन संस्कृति अच्छी खाद है, खाद्य नहीं है। प्राचीन संस्कृति फिर से नहीं आ सकती। प्राचीन सनातन आत्मा को नया कलेवर देना होगा। हम किसी से आत्मा उधार नहीं लेंगे। और न अनात्मा के उपासक बनेंगे। निर्भय होकर नये-नये प्रयोग करने होंगे। प्रयोगवीर ही सब-कुछ पाता है। प्रयोग-वीर खाने को तैयार होता है, इसीलिए पाता है।”

15-10-'63

### जागतिक सामाजिक क्रांति

यूनाइटेड स्टेट्स, जिसको हम अमेरिका कहते हैं, भारत के जैसा ही अनेक राज्यों का देश है। यूनाइटेड स्टेट्स के उत्तर में कैनेडा है, जिसमें ब्रिटिश और फ्रेंच लोग रहते हैं। वह भी अमेरिका है, लेकिन उसे कैनेडा ही कहते हैं। अमेरिका माने यूनाइटेड स्टेट्स। उसके दक्षिण में मैक्सिको है। वह भी उत्तरी अमेरिका खंड का ही हिस्सा है। लेकिन उसे कोई अमेरिका नहीं कहता। दुनिया के लोग अमेरिका कहने से युनाइटेड स्टेट्स को ही नजर के सामने रखते हैं।

इस अमेरिका में यूरोप से आकर बसे हुए गोरे लोग रहते हैं। केवल ब्रिटेन नहीं, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, एशियन सब राष्ट्रों से आये हुए गोरे यूरोपियन आपास में घुल-मिल गये हैं और अपने को अमेरिकन कहते हैं।

इनमें से अधिकांश किसी-न-किसी फिरके के ईसाई ही हैं। थोड़े यहूदी-ज्यू हैं। वे भी गोरे यूरोपियन ही हैं। वे भी अपने को अमेरिकन ही कहते हैं, लेकिन धर्मभेद के कारण ईसाई अमेरिकन उनको कुछ अलग रखते हैं। वे बेचारे ऐसे अलगाव से दुःखी रहते हैं, लेकिन चला लेते हैं। राष्ट्रीय जीवन जीते उनको कोई कठिनाई नहीं आती।

अमेरिका का सबसे बड़ा सवाल है, अफ्रीका से लाये गये काले नीग्रो लोगों का।

प्रथम-प्रथम ये लोग गुलाम के तौर पर खरीदकर लाये गये थे। कपास की खेती में और घर के काम में इनका उपयोग था। गुलाम यानी करीब-करीब जानवर के जैसी उनकी हालत थी। बाद में इन्हें स्वतंत्र किया गया। कानूनन ये भी अमेरिकन ही हैं। अमेरिकन गोरे इनकी राष्ट्रीयता का इनकार नहीं कर सकते। लेकिन सामाजिक व्यवहार में इनकी स्थिति निकृष्ट है। अब ये नीग्रो लोग धीरे-धीरे शिक्षा पा रहे हैं, धन भी कमा रहे हैं। सब के सब ईसाई तो शुरू से बने ही हैं। लेकिन इनकी हालत कुछ शूद्रों के जैसी, अछूतों के जैसी है। जब कल-कारखाने में और तिजारत में मंदी आती है, तब नौकरी पर से इन्हीं को सबसे पहले हटाया जाता है, गोरों को बाद में। सामाजिक जीवन में और आजीविका के आर्थिक क्षेत्र में नीग्रो की हालत कुछ दयनीय है।

अब इन नीग्रो को पूरी-पूरी समानता देने के कानून बना रहे हैं। बहुत से बने भी हैं। तो भी ये लोग गोरों के साथ घुल-मिल नहीं सकते। झगड़ा चालू ही है। और खुशी की बात है कि अमेरिका के चंद गोरे पूरे-पूरे नीग्रो के पक्ष में हैं। अभी-अभी अमेरिका के हुतात्मा अध्यक्ष मि. केनेडी का नाम दुनिया में इसलिए रोशन है कि उसने नीग्रो को समानता के पूरे हक देने की नीति दृढ़ता से चलायी।

अब अमेरिका की हालत ऐसी है कि उत्तरी राज्य के गोरे लोग नीग्रो के लिए अनुकूल हैं। दक्षिणी राज्यों में नीग्रों की संख्या अधिक है। वहां के गोरे अकसर नीग्रों की समानता नहीं चाहते। उनका कहना हम लोगों को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए।

दक्षिण राज्यों के अच्छे गोरे लोग कहते हैं कि इन नीग्रों को हम ही तो गुलाम के तौर पर अमेरिका में ले आये। उनके लिए हम जिम्मेदार हैं, इसका इनकार नहीं हो सकता। वे भी अमेरिका के पूरे-पूरे नागरिक हैं। नागरिकों को मिलने वाले सब अधिकार और

सब सहूलियतें उनको भी मिलनी चाहिए। गोरो की संस्था के लिए जैसे अनुदान मिलते हैं, वैसे अनुदान नीग्रों की संस्था को भी मिलने चाहिए, तनिक भी कम नहीं। इन नीग्रों को हम अपने घर में नौकर के तौर पर रखते हैं। वे हमारा खाना पकाते हैं, हमारे बच्चों को संभालते हैं, इसमें हमें एतराज नहीं है। लेकिन हमारे साथ समान भाव से एक टेबल पर वे खायें, हमारे बच्चों के साथ उनके बच्चे एक ही स्कूल में, एक ही कक्षा में पढ़ें यह हमसे वरदाशत नहीं होगा। गोरो की जाति अलग है, वंश अलग है, नीग्रों का वंश अलग है, उनकी चमड़ी, उनके बाल, उनके पांव के अंगूठे सब कुछ कुदरत ने ही अलग बनाये हैं। इसलिए काले-गोरे की शादियां हों, यह हमारे लिए असह्य है। पढ़ाई में और खानपान में इनकी समानता हम बरदाशत नहीं कर सकते। एक वाक्य में वे कहते हैं, समानता मंजूर, किन्तु एकता नहीं (equal but separate) यह है हमारा समाजशास्त्रीय सूत्र।

नीग्रो कहते हैं, उत्तरी राज्य के गोरे भी कहते हैं कि 'समान किन्तु अलग' यह सूत्र भ्रामक है, मानवता का द्रोही है। जब हम सब ईसाई हैं और एक ही राज्य के स्वतंत्र नागरिक हैं तो घुल-मिल जाने का अधिकार नीग्रो को होना चाहिए। गोरो के होटलों में रहने के और खाने के अधिकार से नीग्रों को वंचित कैसे रखा जा सकता है?

इस सारी परिस्थिति में और भी एक बात सोचने की है। काले-गोरे की शादियां नहीं हो सकतीं। कहीं-कहीं कानून भी काले-गोरे की शादियां मना करता है। तो भी कई नीग्रो स्त्रियों का गोरो के साथ संबंध होता है और उनको अधगोरे बच्चे होते हैं। कभी-कभी ऐसे बच्चे इतने गोरे-गोरे होते हैं अमेरिका के अनुभवी लोक शकल से पहचान लेते हैं कि यह आदमी दीखता है तो गोरा, लेकिन मिश्र संतति का है।

गोरी लड़कियों का काले नीग्रों के साथ संबंध आना इतना आसान नहीं है। किसी काले मर्द ने प्रयत्न किया तो उसका तुरंत कत्ल होता है। और आजकल तो बच्चे होने देना या नहीं, मां के हाथ की बात है। इसलिए यह सारा सवाल इकतरफा यानी अनुलोम ही है। प्रतिलोम शादी का सवाल वहां खड़ा होने ही नहीं देते।

यह है अमेरिका की सामाजिक स्थिति। अब उस देश में जापान के, चीन के, भारत के और एशिया के अन्य देशों के लोग भी थोड़े अनुपात में जाकर बस सकते हैं। ऐसे लोगों के साथ शादियां करने में अमेरिकन गोरे स्त्री-पुरुषों को आपत्ति नहीं है। वे कहते हैं, ये काले नीग्रो हमारे गुलाम थे। उनके साथ वांशिक एकता हम कभी भी बरदाशत नहीं करेंगे। लेकिन एशिया के लोगों के साथ घुल-मिल जाते, हमें वैसा एतराज नहीं है।

अमेरिका की यह सामाजिक स्थिति और वहां के लोगों का मानस समझना हमारे लिए जरूरी है। हमारे यहां चमड़ी के वर्ण का भेद अब रहा नहीं है। एक ही जाति में सब तरह की चमड़ियां पायी जाती हैं। शालिग्राम के जैसे काले और केतकी जैसे गोरे स्त्री-पुरुष भी एक ही जाति में पाये जाते हैं। शादियों में रंग की पसंदगी नहीं होती सो नहीं। लेकिन चमड़ी के रंगभेद से जातिभेद नहीं माना जाता। और काले-गोरे की शादियां अकसर होती ही हैं। अमेरिका में छूने न छूने का सवाल नहीं है। किसके हाथ का खाना यह भी सवाल नहीं है। समानता से रहना और घुल-मिल जाना यही बड़ा सवाल है। यूरोप में अलग-अलग देश के राष्ट्र अलग होते हैं, भाषाएं भी अलग होती हैं। लेकिन ये ही लोग जब अमेरिका में जा बसते हैं, तब अपनी भाषा छोड़कर अमेरिकन यानी अंग्रेजी भाषा वे अपनाते हैं, शादियां करते हैं और एकजीव हो जाते हैं। हमारे यहां ऐसा नहीं है। एक ही प्रांत के एक ही भाषा बोलने वाले एक ही धर्म

के लोग अगर जाति से भिन्न हैं तो उनकी शादियां नहीं हो सकतीं। इससे विपरीत भी एक आश्चर्य है। भाषा भिन्न हो, प्रांत भिन्न हो और धर्म भी भिन्न हो, लेकिन जाति अगर एक है तो उनमें शादियां होने में कोई बाधा नहीं है। पंजाब में एक ही जाति के हिन्दू और सिखों के बीच विवाह हो सकते हैं। जैन और वैष्णव वनियों के बीच शादियां आराम से होती हैं। प्रांत भेद और भाषाभेद होते हुए भी भारत के ब्राह्मण आपस में शादियां कर सकते हैं। धर्म या कानून आड़े नहीं आता। सवाल केवल रूढ़ि और दीर्घकालीन मान्यता का ही रहता है। इसमें न स्मृतियां अंतिम प्रमाण हैं, न कोई धर्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र। रस्म-रिवाज भी जबरदस्ती से अगर तोड़े गये तो तोड़े गये। जिस बात को समाज ने खुशी से या खुशी के बिना मंजूर किया सो मंजूर हो गया। यह है आज की भारत की स्थिति। इसमें न कोई वंश-शुद्धि बची है, न धर्म-भेद कायम रहा है, न श्रुति-स्मृति का चलता है। लेकिन सामाजिक अलगाव और राष्ट्रीय एकता की कमजोरी यह रोग हमारे यहां है ही। अमेरिका में लोकमत तैयार नहीं, इसलिए कानून भी हिम्मत नहीं करते। भारत में कानून ने और संविधान ने अस्पृश्यता को सर्वानुमति से तोड़ दिया तो भी समाज में अस्पृश्यता अभी भी है, खास करके गांवों में। और इलेक्शन में—चुनाव में वोट देते समय प्रतिनिधि प्रसंद करने में जाति का विचार किया जाता है, भले चोरी से। यह बड़ी विचित्रता है। इन सब बातों का खयाल करके हमें अब बड़ी सामाजिक क्रांति करनी है। श्री विनोबा का ग्रामदान एक तरह से सामाजिक क्रांति कर रहा है। उसके साथ सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति भी करनी होगी। ग्रामदान इसमें मददगार ही होगा। इस वक्त हमें शुद्ध ढंग से विचार करने की आदत डालनी चाहिए। विचार-शुद्धि के बाद क्रांति आसानी से और त्वरित होगी। 15-6-1966 □



## क्रांति का दिशा-बोध

□ धीरेन्द्र मजूमदार



‘हर हाथ को काम, हर शरीर को आराम और हर मन को आनन्द’ देने के हिमायती धीरेन्द्रभाई का जन्म 10 सितंबर 1900 को गोरखपुर में हुआ। गांधीजी के आह्वान पर 1921 में वे राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े।

गांधीजी अ. भा. चरखा-संघ के अध्यक्ष थे। उनके निर्वाण के बाद धीरेन्द्र चरखा-संघ के अध्यक्ष हुए और उन्होंने समग्र ग्राम-सेवा का क्रांतिकारी दर्शन प्रस्तुत किया।

1949 में विनोबाजी की सलाह पर रचनात्मक संस्थाओं ने जब सर्व सेवा संघ में विलयन किया, तो धीरेन्द्रभाई को संघ का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया। वे संघर्ष, शिक्षण, रचना और संगठन की दृष्टि से संपूर्ण क्रांति के आचार्य थे।

60 वर्ष की अवस्था पूरी हो जाने पर धीरेन्द्र संस्था-मुक्त हो लोक-गंगा यात्रा पर निकले, जिसका समापन उनकी देह-मुक्ति के साथ ही वाराणसी में 21 नवंबर, 1978 को हुआ।

—सं.

विश्व की वर्तमान परिस्थिति ऐसी जटिल होती जा रही है कि संसार के चोटी के समाजशास्त्री भी परेशान हो रहे हैं। किसी को स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आ रहा है कि जमाने की वास्तविक समस्या क्या है। समस्या की मूल सतह को देख न सकने के कारण वे ऊपर-ऊपर की परिस्थिति का ही विश्लेषण करने में लगे हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम शांति से विचार करें कि असलियत क्या है और क्यों विश्व-शांति की आकांक्षा रखने वाला संसार सर्वोन्मुखी अशांति के दलदल में धंसता जा रहा है?

आज संसार विचारपूर्वक तथा ईमानदारी के साथ निःशस्त्रीकरण की मांग कर रहा है। दुनिया के नेता पिछले कई दशकों से लगातार निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में शामिल होते जा रहे हैं। नेता, समाजशास्त्री तथा विचारक अत्यन्त गंभीर तर्क के साथ सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि विज्ञान के अति विकास के इस युग में हिंसा द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। साथ ही साथ भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के शासक शस्त्रीकरण की अतिवृद्धि करते जा रहे हैं और समाज के करीब-करीब सभी नेता शस्त्रीकरण की इस परंपरा को मान्यता देते चले जा रहे हैं। वे जितनी ईमानदारी के साथ निःशस्त्रीकरण की मांग करते और विचारपूर्वक तथा तर्कपूर्वक यह कहते हैं कि इस युग में हिंसा द्वारा किसी समस्या का हल नहीं हो सकता, उतनी ही ईमानदारी, विचार और तर्क के साथ यह भी कहते हैं कि संरक्षण के लिए हिंसा और शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है। लेकिन अगर किसी कोने से कोई विचारक यह कहने का साहस करता भी है कि आज की सारी समस्याओं का मुकाबला शांतिमय और अहिंसक तरीके से किया जा सकता है, तो अव्यावहारिक, स्वप्न-द्रष्टा कहकर उसकी हंसी उड़ायी जाती है।

वस्तुतः विचार के इस अंतर्विरोध के कारण ही आज मनुष्य समाज को गतिहीन बनना पड़ रहा है। आज का मानव युद्ध

करना नहीं चाहता और हिंसा छोड़ना भी नहीं चाहता। फलस्वरूप युद्ध हो नहीं पाता और झगड़ा छूटता नहीं। ऐसी परिस्थिति में विश्व को बिना युद्ध के ही संघर्ष की अग्नि द्वारा भीतर-भीतर जलकर खाक होना पड़ रहा है।

जब मानसिक विसंगतिजनित निराशा के कारण समाज की प्रगति नहीं हो पा रही है तो अधोगति अवश्यम्भावी है, क्योंकि सृष्टि में कोई चीज स्थिर नहीं रह सकती। परिणामस्वरूप आज विश्व के कोने-कोने में अन्याय, अत्याचार, दुर्नीति और दुराचार का बाजार गर्म है। हर देश की जनता परेशान है। केवल जनता ही नहीं, नेता और शासक भी परेशान हैं। अतएव यह आवश्यक है कि युग के प्रत्येक विचारक गंभीरता के साथ उपर्युक्त मानसिक विसंगतियों का विश्लेषण करें और उसके मूल कारण पर पहुंचें।

जब हम बुनियाद पर नजर डालते हैं तो स्पष्ट होता है कि आज की मुख्य समस्या है, विज्ञान की चुनौती। प्राचीनकाल से मानव ने विकास का एक शास्त्र बना रखा था। वह यह था कि ‘प्रतिद्वन्द्विता उन्नति का सोपान है।’ युद्ध और द्वन्द्व को समस्याओं के समाधान का मुख्य साधन माना गया था। शासक और समाजशास्त्री जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दंगल और प्रतिद्वन्द्विता के अनुष्ठान का आयोजन करते रहे। वे मानते रहे कि प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व से मानव-समाज का विकास होता रहेगा। लेकिन विज्ञान की अति प्रगति के कारण अब यह शास्त्र पुराना हो गया है। विज्ञान मानव को पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आज प्रतिद्वन्द्विता विकास का सोपान न रहकर सर्वनाश का उपादान हो गया है। शस्त्र में अब न रक्षण-शक्ति है और न प्रतिरक्षण-शक्ति। वह अब विनाशक शक्ति के रूप में ही प्रकट हो रही है। यही कारण है कि आज प्रत्येक राष्ट्र के नेता निःशस्त्रीकरण का उद्घोष कर रहे हैं। वे अत्यन्त गंभीरता के साथ मानने लगे हैं कि शस्त्रागार को खाली कर उन्हें समुद्र में डुबो देना चाहिए।

अतएव अगर निःशस्त्रीकरण

आवश्यक है, तो उसका अनिवार्य तर्क यह है कि विश्व को संपूर्ण रूप से शस्त्रमुक्त होना होगा। वस्तुतः रूस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री क्रुशेव साहब ने राष्ट्रसंघ के सामने इसी विचार को प्रकट किया था। उन्होंने कहा था कि निःशस्त्रीकरण यदि इष्ट है, तो समस्त शस्त्रों को नष्ट करना आवश्यक है। गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट है कि क्रुशेव साहब की उपर्युक्त घोषणा बिलकुल सही थी।

जब इन्सान इस तरह शस्त्र-निराकरण की बात सोचने के लिए बाध्य हो रहा है, उसका उद्घोष कर रहा है और उसके अमल के उपाय खोजने के उद्देश्य से बैठकों का आयोजन कर रहा है, तो किसी-न-किसी दिन वह इस पर अमल भी करेगा, इसमें संदेह नहीं।

जब संसार को बाध्य होकर शस्त्र का त्याग करना पड़ेगा, तो उसके साथ-साथ सैनिक संगठनों का भी विसर्जन करना होगा। सैनिक संगठनों के विघटन से दंडशक्ति की शक्ति समाप्त हो जायेगी। दंड की समाप्ति पर समाज के अमन और चैन का क्या होगा? प्रकृति के अंतर में निहित विकृति का निरसन और नियंत्रण कौन करेगा और संसार के भिन्न-भिन्न राज्यों का शासनतंत्र किस शक्ति से चलेगा? वस्तुतः आज के जमाने की मुख्य चुनौती यही है कि अब तक शस्त्र आधारित दंड-शक्ति समाज के जिस संतुलन की रक्षा कर रही थी, पूर्ण निःशस्त्रीकरण के बाद वह धंधा कौन करेगा?

यद्यपि आज मनुष्य के पास युग के इस प्रश्न का उत्तर नहीं है, काल-पुरुष ने यह उत्तर पहले ही दे दिया था। लेकिन पुरानी रूढ़ि में जकड़ा हुआ मनुष्य उसको पकड़ नहीं पाया और आज भी किसी को उसकी चिन्ता नहीं है।

जिस तरह प्रकृति ने संतान के जन्म के साथ-साथ माता के स्तन में दूध पैदा किया है, उसी तरह जिस मनुष्य ने पहले-पहल शक्ति का आविष्कार किया, उसी समय काल-पुरुष ने उसके मस्तिष्क में लोकतंत्र का विचार पैदा कर दिया था। लोकतंत्र का उद्घोष साम्य, मैत्री तथा स्वतंत्रता का है।

उसको प्रक्रिया सिर तोड़ने के बदले सिर गिनने की है। लोकतंत्र में सामाजिक शक्ति के रूप में दबाव के स्थान पर मानव की परम्परा चलाने की है। यह समाज में सम्मति-शक्ति के अधिष्ठान की एक साधना है। दुर्भाग्य से, यद्यपि लोकतंत्र के विचार ने दंड-शक्ति के स्थान पर सम्मति-शक्ति की प्रक्रिया भौतिक विज्ञान के विकास के प्रथम काल में ही पेश कर दी थी, तथापि मनुष्य ने अपनी गलती के कारण अब तक उस शक्ति का विकास नहीं किया। अगर वैसा हुआ होता तो आज विश्व को वर्तमान संकट का सामना न करना पड़ता।

जिन ऋषियों ने लोकतंत्र के विचार के साथ सम्मति के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था, उन्होंने समाज-विज्ञान के एक मूल तत्व पर गौर नहीं किया होगा। गांधीजी ने कहा था कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साध्य के अनुरूप ही साधन का उपयोग होना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक है कि किसी विचार को साकार करने के लिए तथा उसके अनुसार समाज के संगठन तथा संचालन के लिए सिद्धान्त (Ideology) के अनुरूप पद्धति (Technology) का विकास हो।

क्रांति के नेताओं ने तो राजतंत्र के बदले में लोकतंत्र का सिद्धान्त अपना लिया, लेकिन पद्धति वही रखी, जो राजतंत्र में चलती थी। लोकतंत्र की चालक तथा धृति-शक्ति सम्मति ही हो सकती है, लेकिन क्रांति के सफल नेताओं ने सम्मति की सामाजिक शक्ति को विकसित करने का प्रयास न करके शस्त्र-आधारित दंड-शक्ति को ही समाज की एकमात्र शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया और केन्द्र-संचालित अमलातंत्र को समाज-संचालन के यंत्र के रूप में स्वीकार कर लिया और केन्द्र-संचालित अमलातंत्र को समाज-संचालन के यंत्र के रूप में ग्रहण कर लिया।

वस्तुतः गांधीजी के पहले के क्रांतिकारियों ने विचार और सिद्धान्त की क्रांति के लिए अनेक प्रकार के संघर्ष किये। वे दीर्घकाल तक महान् त्याग तथा तपस्या में लगे रहे तथा कठोर कठिनाई और परेशानियों

से गुजरते रहे। लेकिन उन्हें इस बात का ध्यान न रहा कि विचार, सिद्धान्त तथा आदर्श-परिवर्तन के साथ-साथ समाज के संचालन-तंत्र में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन की आवश्यकता है। साथ ही जिस तरह नये आदर्श के लिए संघर्ष जरूरी है, उसी प्रकार नयी पद्धति के लिए भी संघर्ष अनिवार्य है। अर्थात् विचार क्रांति के साथ-साथ समान रूप से पद्धति-क्रांति की भी आवश्यकता है। लेकिन क्रांतिकारियों के विचार में यह बात आयी भी होगी तो सहूलियत के मोह में पड़कर या जल्दी से नये आदर्श के अनुसार समाज को संगठित करने की तीव्रता के कारण, नये आदर्श के संचालन के लिए नयी पद्धति की खोज करने के बजाय उन्होंने बनी-बनायी प्रचलित पद्धति को ही कुछ संशोधन के साथ अपना लिया।

सफल क्रांतिकारियों ने लोकतांत्रिक समाज के संचालन के लिए तथा उसके संगठन और संवर्धन के लिए राजतंत्र द्वारा परिकल्पित तथा विकसित शक्ति और पद्धति को अपना लिया। उससे समाज की पूर्वस्थिति ही कायम रही। साथ ही केन्द्रीय सैनिक शक्ति तथा केन्द्रस्थ अमलातंत्र से संचालित समाज को केन्द्र में ही अवस्थित पूंजीपति-वर्ग ने अपने अधीन कर लिया। फलस्वरूप आज संसार के जिन-जिन देशों में लोकतंत्र की पद्धति प्रचलित है, वहां-वहां का राजनैतिक स्वरूप पूंजीवादी लोकतंत्र के रूप में ही विकसित हो पाया। वहां के लोकतंत्र का 'लोक' पूंजीवादी शोषण से चुसता रहा।

इस प्रकार के लोकतंत्र में 'लोक' राजतंत्र के समय जैसा ही सैनिक-तंत्र तथा नौकरशाही का गुलाम बना रहा। इतना ही नहीं, बल्कि वह व्यापक रूप से विकसित तंत्र के नीचे पहले से अधिक दब गया। फलस्वरूप आज का लोकतंत्र चुनाव-अनुष्ठान से आगे कुछ प्रगति नहीं कर सका और वह एक प्रकार का 'लोक-पसंद-तंत्र' मात्र बनकर रह गया।

इस प्रकार जब 'लोक' पर अपने तंत्र

के संचालन की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी नहीं आयी और मात्र संचालक चुनने का ही उसका अधिकार रहा, तो यह स्वाभाविक ही था कि 'लोक' अपने चुने हुए संचालकों से अपनी सुख-सुविधा की मांग पेश करता। इसी परिस्थिति ने राजनीति-शास्त्र में कल्याणकारी राज्यवाद के विचार को जन्म दिया।

इस कल्याणकारी राज्यवाद का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति भूखा रहे, तो राज्य जिम्मेदार है, कोई बेकार रहे, तो राज्य जिम्मेदार है, कोई बीमार तथा अशक्त हो जाय, तो भी राज्य ही जिम्मेदार है। इतना ही नहीं, अगर किसी की बेटी को तालाब में स्नान करके लौटते समय रास्ते में कांटा चुभ जाय, तो भी राज्य जिम्मेदार है, क्योंकि सरकार ने सड़क क्यों नहीं बनायी और बनायी भी, तो साफ क्यों नहीं रखी? हर चीज का एक सहज परिणाम (Corollary) होता है। अगर राज्य को यह जिम्मेदारी दी गयी है कि एक भी व्यक्ति भूखा न रहे, तो उसको नियंत्रण का यह अधिकार भी देना ही पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति अपने हिस्से से ज्यादा अन्न का एक दाना भी उपयोग न करने पाये। अर्थात् समाज की समस्त आवश्यकताओं के लिए राज्य जिम्मेदार है, तो पूरे देश के हर प्रकार के साधनों पर भी राज्य का ही अधिकार रहे, यह अनिवार्य है। फिर सर्वाधिकारी राज्यवाद इससे भिन्न क्या चीज है? इस तरह हम देखें तो आज के लोकतंत्र के लिए गणित का एक समीकरण (Equation) बन जाता है : "एक सुसंगठित पूर्ण जिम्मेदार तथा कुशल कल्याणकारी राज्य=एक सर्वाधिकारी राज्य" (A thorough and efficient welfare state is equal to a totalitarian state)।

यह सही है कि लोकतंत्र के नेताओं ने अपनी राजनैतिक पद्धति में कुछ नयी बातें अवश्य की हैं, लेकिन इतना करने में दुर्भाग्य से उनका चिन्तन लोकमूलक न होकर तंत्रमूलक रहा है। अतः उन्होंने जो कुछ नयी बात की है, वह विधान के संदर्भ में ही। विधान में दो दलों की कल्पना की गयी :

एक शासक दल, दूसरा विरोधी दल। कल्पना अच्छी थी। जिस तरह हर संस्था का एक मैनेजर और दूसरा आडीटर होता है, उसी तरह शासन में दोनों दलों की जिम्मेदारी मानी गयी थी। शासक-दल शासन करे अर्थात् प्रबंध करे और विरोधी दल उनकी त्रुटि सुधारता रहे। लेकिन चूंकि समाज-व्यवस्था की पद्धति में शासक-दल के हाथ में सर्वाधिकारी सत्ता पूंजीभूत होती जा रही है, इसलिए विरोधी दल वस्तुतः सुधारक दल न रहकर उस पर कब्जा करने के लिए प्रतिद्वन्द्वी दल बन गया। फलस्वरूप आधुनिक लोकतंत्र अंततोगत्वा 'लोक-पसंद-तंत्र' भी न रह पाया। वह एक 'धक्का-तंत्र' बन गया।

एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों को तो छोड़ ही देना चाहिए। वहां की जनता में तो लोकतंत्र की चेतना भी नहीं है। उन्होंने कभी लोकतंत्र के लिए संघर्ष ही नहीं किया। जो कुछ संघर्ष किया, वह सब राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए। जिस तरह रूस में जार के अन्याय, अत्याचार तथा भ्रष्टाचार के खिलाफ विद्रोह करने वाले नेता और उनके द्वारा संगठित दल मार्क्सवादी थे, तो वहां क्रांति की सफलता के बाद कम्युनिस्ट-शासन अधिष्ठित हुआ और शासन द्वारा जनता पर साम्यवाद लाद दिया गया, उसी तरह एशिया और अफ्रीका के जिन देशों में स्वतंत्रता संग्राम के नेता तथा उनके द्वारा संगठित दल लोकतंत्र के विचार को मानने वाले थे, वहां स्वतंत्रता हासिल होने के बाद लोकतांत्रिक सरकार बनी और उस सरकार के द्वारा देश पर लोकतंत्र लाद दिया गया और जिन देशों के नेता अधिकनायकवाद को मानने वाले थे, वहां तानाशाही स्थापित हुई। 'सर्वहारा का राज्य', 'जनता का राज्य' आदि सिर्फ आकर्षक घोष-वाक्य रह गये। वास्तविकता यह रही कि हर संग्राम के बाद उस संग्राम के नेता तथा उसके दल का राज्य हुआ। वह नेता और उसका दल जिस विचार को मानते थे, उस विचार का 'साइनबोर्ड' वहां टंग गया।

अतएव एशिया और अफ्रीका के देशों में, जहां की जनता लोकतंत्र के विचार के

लिए शुरू से ही अचेतन रही है, अगर गणतंत्र के नाम से 'धक्कावाद' का अधिष्ठान हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कल्याणकारी राज्यवाद तथा प्रतिद्वन्द्वितावादी राजनीति ने शासकों के एक नये वर्ग की सृष्टि की, जो शासन, व्यवस्था तथा कल्याण के नाम पर जनता की छाती पर बैठ गया। इस नये वर्ग में राजनैतिक पक्षों के लोग, सेना और नौकरशाही के लोग तथा इनसे सम्बद्ध पेशोले सभी लोग आते हैं। इन्हें शासक-वर्ग, व्यवस्थापक-वर्ग, बुद्धिजीवी-वर्ग आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है; लेकिन हैं ये सब लोग एक ही वर्ग के। लोक-कल्याण के नाम पर जैसे-जैसे शासन के कब्जे में जन-जीवन का अंग-प्रत्यंग आता गया, वैसे-वैसे इस वर्ग का क्षेत्र भी बढ़ता गया। आज तो लोकतांत्रिक समाज इसी एक वर्ग के भिन्न-भिन्न गिरोह के आपसी द्वन्द्व का अखाड़ा बन गया है।

पुराने समय में जब राजतंत्र चलता था, तो उसका एक दरबार होता था। राजा के साथ कुछ उमरावों का छोटा-सा गोल राजप्रासाद के साथ जुड़ा रहता था। सामान्यतया तो युवराज ही राजसिंहासन का अधिकारी होता था, लेकिन कभी-कभी राजप्रासाद के अंदर ही अंदर राज्यक्रांतियों हो जाया करती और एक के हाथ से दूसरे के हाथ में सत्ता हस्तांतरित हो जाती थी। उसे राजनीतिशास्त्र में 'प्रासादिक-क्रांति' (oceanic circles) कहते थे।

ठीक इसी तरह आज के लोकतंत्र के नाम से जो स्पर्धा और विरोधवाद चल रहा है, उसका रूप भी शासकों के उक्त नये वर्ग के अंदर-अंदर की 'प्रासादिक-क्रांति' जैसा बनता जा रहा है। अंतर इतना ही है कि पहले उसका आकार छोटा होता था और वह कदाचित्त हुआ करता था; लेकिन इस 'आधुनिक प्रकार' का रूप व्यापक है, और उसका गठन नियमित रूप से होता है। पहले उसके लिए न सामाजिक मान्यता थी और न प्रतिष्ठा। लेकिन यह 'आधुनिक प्रासादिक-क्रांति' लोकमानस में प्रतिष्ठित भी है। □

5 जून : संपूर्ण क्रांति दिवस

## संपूर्ण क्रांति के लिए क्रांतिकारी लोकशक्ति का निर्माण आवश्यक

□ जयप्रकाश नारायण



जेपी ने अपने इस आलेख में संपूर्ण क्रांति के लिए क्रांतिकारी लोकशक्तियों के निर्माण को आवश्यक बताया है। क्रांतिकारी लोकशक्तियों का निर्माण कैसे हो साथ ही साथ उन्होंने यह भी बताया है कि लोगों के प्रतिनिधित्व पर आधारित कोई सरकार यदि अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करती है, वह अक्षम, भ्रष्ट व दमनकारी बन जाती है तो उस हालात में लोगों को क्या करना चाहिए। उन्होंने दरअसल संपूर्ण क्रांति कैसे सफल हो, उसकी एक स्पष्ट राह भी दिखायी है। अस्तु, जेपी द्वारा संपूर्ण क्रांति की व्याख्या नहीं करने के सारे प्रश्न यहां निर्मूल हो जाते हैं।’

—सं.

### लोकतंत्र की दो शक्तियां :

**राज्य-शक्ति और लोक-शक्ति :** किन्तु दुःख की बात यह है कि आज के लोकतंत्र में भी हमें कुछ इसी तरह के अनुभव होने लगे हैं। मार्क्स और गांधी के दर्शन में आखिर एक शासन-मुक्त समाज की कल्पना तो है ही। किन्तु मैं नहीं जानता कि आखिरकार राज्य के मुरझाकर झड़ पड़ने की स्थिति कभी आयेगी या नहीं और अगर आयेगी, तो कब आयेगी? आज तो यह पाया जा रहा है कि अभी का सारा दारो-मदार राज्यवाद पर है। राज्य के अधिकारों और उसके कार्य-क्षेत्रों का विस्तार होता जा रहा है। लोगों के कल्याण के नाम पर राज्य अधिक-से-अधिक सत्ता अपने हाथ में लेता जा रहा है और लोगों के जीवन में उसका हस्तक्षेप बढ़ रहा है। राज्य पर लोगों का अवलम्बन भी बढ़ता ही जा रहा है।

इसके अलावा, यह भी देखा जा रहा है कि राज्य सत्ता तो अपने ही अंदर खड़ी हुई विभिन्न शक्तियों के स्वार्थों को सिद्ध करने की एक निजी पेढी के समान बनती जा रही है। इस बात का भी अनुभव हुआ है कि जब राज्य-व्यवस्था की सत्ता के नैतिक आधार को चुनौती दी जाती है तो इसके जवाब में यह भयंकर दमन शुरू कर सकती है। मतलब यह है कि वैसे लोकतंत्र की दो शक्तियां हैं— एक तरफ सरकार की या राज्य की शक्ति है और दूसरी तरफ जनता की या जनशक्ति है। दोनों एक-दूसरे के साथ तालमेल बैठाकर आगे बढ़ते हैं, तभी गाड़ी चलती है। दोनों दो हाथों के समान हैं। दो हाथों का मिलाप होगा, तभी ताली बजेगी, नहीं तो ताली बज ही नहीं सकेगी। किन्तु ऐसी भी एक संभावना रहती है कि कभी-कभी लोक-शक्ति और राज्य-शक्ति के बीच आपस में विरोध खड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति में आमतौर पर यह देखा जाता है कि जो लोग सत्ता में होते हैं, वे यही मानते हैं कि जनता को दबाकर रखना चाहिए, जनता पर शासन करना चाहिए और चूंकि

हम शासक हैं, इसलिए जनता को हमारे आदेश का पालन चुपचाप करना चाहिए। इस तरह बहुधा लोकतंत्र में भी लोगों के और सरकार के बीच संघर्ष अनिवार्य बन जाता है।

**लोक-शक्ति राज्य-शक्ति की अपेक्षा सर्वोपरि :** इसी तरह यह भी हो सकता है कि लोगों का कोई प्रतिनिधि अथवा लोगों के प्रतिनिधित्व पर आधारित कोई सरकार अपने कर्तव्यों का पालन न करती हो, सरकार स्वयं भ्रष्टाचारी, दमनकारी और अक्षम बन चुकी हो तो उस हालत में लोगों को क्या करना चाहिए? सरकार के भ्रष्ट और अंधा-धुंधी से भरे कारोबार के खिलाफ लोगों को क्या कार्रवाई करनी चाहिए? क्या यही कि वे अगले चुनावों तक राह देखें? और जब ये चुनाव ही शुद्ध और मुक्त न रह गये हों, उस स्थिति में जनता क्या करे? अगर आप ऐसी सरकारों का परदाफाश न कर सकें, उनको हटाने या उनका कायापलट करने के लिए आप कोई आंदोलन न कर सकें, तो फिर लोक-जीवन के लिए अपने उद्धार का आधार ही क्या रहा?

असल में सभा, जुलूस, हड़ताल, बंद, सविनय अवज्ञा आदि सब लोकतंत्र के हथियार हैं। जरूरत पड़ने पर इन सबका उपयोग होता न रहे, तो वे जंग खा जायेंगे। इसलिए ऐसे अवसरों पर लोगों के पास सीधी कार्यवाही करने के लिए कुछ गुंजाइश रहनी ही चाहिए। सब सचमुच ही संविधान-सम्मत पद्धतियां और संस्थापित लोकतांत्रिक संस्थाएं लोगों की यातनाओं को दूर करने में अथवा लोगों की इच्छाओं का उचित उत्तर देने में विफल हो जाती हैं, उस स्थिति में लोग और कर भी क्या सकते हैं? उलटे, ऐसे समय में लोकतंत्र का यह एक स्वस्थ और स्वागत-योग्य लक्षण होता है कि लोग—लोकतंत्र के सच्चे स्वामी—अपना सिर ऊंचा करके, भले ही संविधान के बाहर के, किन्तु शांतिपूर्ण साधनों द्वारा, सत्ता को झुका कर अपना



अधिकार सिद्ध करें। संसदीय लोकतंत्र में भी लोग उसके केवल निष्क्रिय वाहक न बनकर सक्रिय रीति से अपने द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से जवाब पूछने वाले और अंततः उनकी गतिविधियों पर अंकुश रखने वाले सच्चे 'डेमास' यानी 'लोक' के रूप में व्यवहार कर सकते हैं। इसमें सबसे मुख्य बात यह है कि लोकतंत्र में लोक-शक्ति राज्य-शक्ति की तुलना में सर्वोपरि है, राज्य-शक्ति लोक-शक्ति के अधीन है। इसलिए आवश्यक पड़ने पर बिना किसी बाधा के ऐसी लड़ाई छेड़ने चलाने की आवश्यकता होगी।

इसी के साथ सरकार को खुद अपनी हिंसा पर भी काबू रखना सीखना होगा। इस विषय में अब तक की परंपरा यह रही है कि जैसे ही थोड़ी पत्थरबाजी हुई और किसी पुलिस अधिकारी को पत्थर की चोट लगी कि बंदूक से गोलियां छूटने लगती हैं। इसकी वजह से कई लोग घायल हो जाते हैं और आसपास खड़े हुआओं में से भी कुछ लोग मर जाते हैं। ऐसा अक्सर ही होता है। समाज ने सरकार के हाथ में जो दंड-शक्ति सौंपी है उसका ऐसा अविचारपूर्ण उपयोग बंद होना ही चाहिए। इस संदर्भ में सीमा-सुरक्षा-बल के मुखिया श्री रुस्तमजी ने आंतरिक कानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए कम विघातक साधनों का उपयोग करने की जो सिफारिश की है, सरकार को उस पर तुरंत ही ध्यान देना चाहिए। रुस्तमजी ने कहा कि रायफलें तो लड़ाई लड़ने के लिए हैं। उनका उपयोग देश की जनता पर नहीं किया जाना चाहिए। आंतरिक सुरक्षा के लिए नई किस्म की ऐसी गोलियों की जरूरत है, जो इनसान की जान न लें, उसे सिर्फ घायल करे।

साथ ही, सरकारों को अपना घर भी व्यवस्थित करना चाहिए। घूसखोर, रिश्तखोर और भ्रष्टाचारी मंत्रियों और अधिकारियों को हटा देना चाहिए, प्रशासनिक व्यवस्था में आवश्यक सुधार करने चाहिए,

कालाबाजारियों, मुनाफाखोरों और संग्रहखोरों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जानी चाहिए, भूख से बिलबिलाने वाले गरीबों को राहत पहुंचाने के उपाय तुरंत किये जाने चाहिए, हर किसी की बात को शांतिपूर्वक और सहानुभूतिपूर्वक सुनकर उसे किसी न किसी रूप में संतुष्ट करने के प्रयत्न किये जाने चाहिए।

**विद्यार्थी हिंसा की दिशा में क्यों मुड़ते हैं?** : इस मामले में हमें इससे भी ज्यादा गहराई में जाना पड़ेगा। हमारी इस खोज का कोई एक महत्वपूर्ण का काम हो, तो वह यही कि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी बसों में आग लगाने के और इसी तरह के दूसरे हिंसक कामों की ओर क्यों मुड़ते हैं? और उनके ऐसे गलत कामों को रोकने के लिए हमने क्या किया है? स्पष्ट ही इसके लिए हमें विद्यार्थियों को समझाने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार के लिए उन्हें उकसाने और भड़काने वाला कारण आखिर क्या है? संभव है कि कुछ विद्यार्थी 'नेता' अपराध होने के कारण, जिन गुड़ों और उपद्रवकारियों की विद्यार्थियों की दुनिया के साथ कोई निसबत नहीं होती, उन्हें अपने साथ में रखकर उनसे ऐसे कुकृत्य करवाने में रुचि रखते हों। लेकिन विद्यार्थी-जगत् में पाये जाने वाले असंतोष की इस समस्या को अपराध-वृत्ति की यह चिप्पी चिपकाकर टाला नहीं जा सकता। इसके कारणों की जड़ में तो हमारी अनुचित और हद तक सड़ी हुई शिक्षा-प्रणाली है, शिक्षितों के साथ सामाजिक और आर्थिक विकास की हमारी वे नीतियां हैं जो हमें बिल्कुल ही उल्टी रास्ते ले जा रही है। इन सबकी जड़ में मौजूद इस बुनियादी सवाल का हल खोजने के लिए हमें कड़ी मेहनत करनी है।

विद्यार्थियों की दुनिया में फैले हुए असंतोष के विषय में जो शोध-कार्य हुए हैं, उनके विवरण हमें इन सारे सवालों के जवाब नहीं दे सकते। लेकिन आज तक उनसे जो

जवाब मिले हैं, उनके आधार पर इस क्षेत्र के लिए नई नीति का निर्धारण अवश्य ही किया जा सकता है। किन्तु आज इस नीति का निर्धारण अवश्य ही किया जा सकता है। किन्तु आज यह नीति केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही लागू होने वाली नीति नहीं होगी, इसमें दूसरे भी कई क्षेत्रों को शामिल कर लेना होगा। जैसे आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा और समाज के वर्गगत ढांचे की पुनर्रचना आदि-आदि। मुझे भय है कि हमारे समाज का मध्यम वर्ग ही जिसमें हमारे सारे राजकाजी लोग, प्रशासन से जुड़े अधिकारी, शिक्षक, व्यापारी और दूसरे पेशेवर लोग सम्मिलित हैं, हमेशा किसी-न-किसी बहाने से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में अथवा शिक्षा की व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने के मार्ग में बाधक बनकर खड़ा रहता है।

**सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह :** आंदोलन के संदर्भ में सविनय अवज्ञा का एक प्रश्न भी विचारणीय है। आमतौर पर आंदोलन में सविनय अवज्ञा आदि का समावेश होता नहीं है। किन्तु असाधारण परिस्थितियों में कि जब सरकार भ्रष्टाचार आदि की अपनी बुराइयों से हठपूर्वक चिपकी रहती है, और तात्कालिक महत्त्व की आवश्यकताओं के बारे में जनता के उचित आंदोलनों को दमन का दौर चलाकर कुचल देना चाहती है (जैसा कि बिहार के विद्यार्थी आंदोलन में हुआ था), तो वैसी परिस्थिति में सविनय अवज्ञा के हथियार का उपयोग करना कर्तव्य-रूप बन सकता है।

इसके अलावा, ऐसे क्षेत्र कि जहां प्रभावकारी ढंग से सविनय अवज्ञा के हथियार का उपयोग नहीं किया जा सकता, वहां सत्याग्रह की आवश्यकता भी पड़ सकती है। जैसे, सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण के विरोध में। यदि ऐसे मामलों में सरकार शोषकों का पक्ष लेकर बाधक बनती है, तो इस प्रकार के सत्याग्रह सरकार के विरुद्ध

सविनय अवज्ञा का स्वरूप भी ले सकते हैं। देश के कई हिस्सों में, कई बार, ऐसी परिस्थितियां खड़ी होती ही रही हैं।

एक सवाल यह भी है कि किसी भी चुनी हुई सरकार को और विधानसभा को भंग करवाने के लिए सविनय अवज्ञा का उपयोग किया जा सकता है या नहीं? इसके विषय में संविधान के विशेषज्ञों और विधिवेत्ताओं ने संविधान की दृष्टि से इसके औचित्य की छानबीन की है। विधानसभा को विसर्जित करने की मांग असंवैधानिक नहीं है। भले ही उसे संविधान के बाहर की चीज माना जाए, किन्तु वह लोकतंत्र-विरोधी तो है ही नहीं। बेशक, यहां यह कहा जाना चाहिए कि चुनी हुई सरकारों को और विधान सभाओं को भंग करने के लिए सविनय अवज्ञा का उपयोग आमतौर पर नहीं किया जाना चाहिए। इस मार्ग का अवलंबन तो असारण परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए। और, सविनय अवज्ञा का या कानून-भंग का यह कार्यक्रम भी पूरी तरह शांतिपूर्ण रीति से ही सम्पन्न होना चाहिए।

हमें यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिए कि आंदोलन हमेशा शांतिपूर्वक ही रहना चाहिए। परिस्थितियों कैसी भी क्यों न हों, फिर भी लोगों को उत्तेजित होकर, हिंसा का सहारा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि यदि ऐसा हुआ, तो उससे आंदोलन को क्षति पहुंचेगी। सरकार की तरफ से कितना ही दमन क्यों न हो, फिर भी आंदोलन को तो अपने हर एक स्तर पर शांतिपूर्ण ही रहना चाहिए। आंसू, गैस, लाठी, गोली, इन सबके मुकाबले में भी आंदोलनकारियों को तो हमेशा शांत ही रहना है। बिहार-आंदोलन का यह नारा— “हमला चाहे जैसा होगा, हाथ हमारा नहीं उठेगा!” हमारे हर एक लोक-आंदोलन की शांति-मंत्र बन जाना चाहिए।

**राजनीतिक पक्षों से परहेज :** इसी तरह ऐसे आंदोलनों को राजनीतिक पक्षों के हाथ की कठपुतली भी नहीं बनने चाहिए।

ऐसे लोक-आंदोलनों का किसी भी राजनीतिक पक्ष या पक्षों के नेतृत्व में चलना इष्ट नहीं होगा। आंदोलन में शामिल होने वाले सब व्यक्तियों को भी कभी किसी राजनीतिक पक्ष के साथ जुड़ना नहीं चाहिए, और अपना बरताव भी वैसा ही रखना चाहिए। पक्ष वाले उसमें शामिल हों, तो उनकी भूमिका भी पक्ष की नहीं रहनी चाहिए। राजनीतिक पक्षों की दृष्टि में लोक-शक्ति की अपेक्षा पक्ष की शक्ति का महत्त्व अधिक होता है। राजनीतिक पक्षों का अपना यह एक स्वभाव ही होता है कि वे पक्ष के ढंग से आंदोलन का लाभ लेने की पूरी-पूरी कोशिश करते ही हैं। इसलिए यदि पक्ष ऐसे लोक-आंदोलन में शामिल होने वाले हों, तो उनमें भी आंदोलन के हित की तुलना में हितों की गौण मानने की वृत्ति जागनी चाहिए। यदि आंदोलन में प्रभावकारी अ-पक्षीय नेतृत्व खड़ा हुआ होगा, पर्याप्त लोक-जागृति आयी होगी, लोक-शक्ति उत्पन्न हुई होगी तो आंदोलन के पक्ष-विहीन स्वरूप की सार-संभाल करना संभव हो सकेगा।

**आंदोलन के लिए परिस्थिति पकनी चाहिए :** यहां हमें एक बात यह भी समझ लेनी है कि किसी बड़े लोक आंदोलन का वातावरण भी हमारी अपनी इच्छा के अनुसार खड़ा नहीं किया जा सकता। वैसे तो किसी भी आंदोलन की पूर्व भूमिका के रूप में गरीबी, बेकारी, कुशिक्षण इत्यादि तत्त्व समाज में हमेशा मौजूद रहते ही हैं। लेकिन उनमें से ऐसा कोई लोक-आंदोलन जगाने के लिए, सूखे ईंधन की-सी समाज की परिस्थिति में चैतन्य प्रकट करने के लिए, एकाध चिनगारी की आवश्यकता होती है।

हनुमान के बारे में कहा जाता है कि वे जितने शांत थे, उतने ही सामर्थ्यवान भी थे। जनता भी हनुमान के समान है। उसमें असीम शक्ति भरी पड़ी है। सवाल सिर्फ उस शक्ति को झकझोरने का, उसे संगठित करने का और गतिमान बनाने का है। और, इतिहास में ऐसे कोई कई उदाहरण मौजूद हैं कि जो

समाज मुरदे की तरह बिल्कुल सोया पड़ा था, वही अचानक अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हो, तख्ता पलट दे, सरकारों को बदल दे, प्रणालियों में परिवर्तन कर डाले और सारा समाज बिल्कुल ही बदल जाये। लोग खुद ही यह सब करें। परिस्थितियां ही ऐसी खड़ी जायं। किन्तु हमें समझना यह है कि मनुष्य अपनी इच्छा से ऐसे लोक-आंदोलन का वातावरण खड़ा नहीं कर सकता। इसके लिए परिस्थिति का पकना आवश्यक होता है।

**परिस्थिति के पिंड में से आंदोलन को आकार देना होता है :** दूसरी बात यह है कि जब परिस्थिति परिपक्व बन जाये, तो उस परिस्थिति के पिंड में से एक क्रांतिकारी आंदोलन के स्वरूप को प्रकट करना नेता का काम होता है। उदाहरण के लिए, जब हम बिहार-आंदोलन को देखते हैं, तो शुरू में जो केवल विद्यार्थियों का आंदोलन था, उसे सारी आम जनता के लोक-आंदोलन के रूप में बदला जा सकता था। जब से मैंने बिहार आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया, तभी से मैंने लोगों को साफ-साफ समझाना शुरू किया था कि एक सरकार के जाने और दूसरी सरकार के आने भर से न भ्रष्टाचार नष्ट होगा, न बेकारी दूर होगी, और न शिक्षा में ही बुनियादी हेरफेर हो सकेगा। ऐसी उथल-पुथल तो पिछले सालों में न जाने कितनी हो चुकी हैं। लेकिन उनकी वजह से फर्क कितना पड़ा? इसलिए हमें इन बीमारियों की जड़ में जाना है। नहीं तो कोल्हू के बैल की तरह इसी व्यवस्था के आसपास घूमते रहने से जनता को कभी राहत नहीं मिल सकेगी। यह तो भूत के जाने और पलीत के आने-जैसी बात होगी! फर्क इतना ही होगा कि नागनाथ की जगह साँपनाथ आ जायेंगे। इसलिए मैंने कहा था कि अब यह आंदोलन मर्यादित न रहकर समस्त जनता का आंदोलन बन जाता है, इसका ध्येय संपूर्ण क्रांति की प्राप्ति से रंचमात्र भी कम नहीं हो सकता। इस निमित्त से तो हमारे पास एक ऐसा सुवर्ण अवसर आया है कि इस

आंदोलन को समूचे लोक-जीवन में फैलाकर हम पूरे देश के नैतिक वातावरण को ऊंचा उठा सकते हैं, और एक नैतिक क्रांति कर सकते हैं।

उन दिनों लोगों में जबरदस्त उत्साह था, आशा और अपेक्षा का एक वातावरण था। मैं इस बात की कोशिश में लगा था कि उस उत्साह और सद्भावना को सही रास्ते मोड़कर उसमें से अच्छे-से-अच्छे नतीजे निकाले जायें। और इन नतीजों का मतलब यह नहीं कि पटने में कुछ थोड़ी उथल-पुथल हो जाये या विधानसभा का विसर्जन-भर कर दिया जाये बल्कि इनकी वजह से समाज में कुछ बुनियादी हेर-फेर हों। इसे लिए हमने संगठन का काम नीचे से शुरू की थी। इन संघर्ष-समितियों को हम खास बात यह समझाते थे कि इन्हें संपूर्ण क्रांति का वाहक बनना है। इनको केवल सत्ता के विरुद्ध ही संघर्ष ही नहीं करना है, बल्कि अन्याय, विषमता, अनीति, शोषण आदि के विरुद्ध भी संघर्ष करते रहना है। जहां लोक-शक्ति पर्याप्त रूप से जाग्रत हो जाती थी, वहां जनता-सरकार के गठन का कार्यक्रम शुरू किया जाता था। जनता-सरकार का कार्यक्रम आम जनता की एक बहुत ही रचनात्मक गतिविधि थी।

इस प्रकार बिहार का विद्यार्थी आंदोलन केवल एक प्रदेश का या वर्ग-विशेष का ही आंदोलन नहीं रहा, बल्कि उसे समाजव्यापी और देशव्यापी महत्त्व प्राप्त हो गया। किसी तात्कालिक हेतु की सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि समाज में एक सर्वांगीण परिवर्तन लाने के लिए, उसने एक लोक-आंदोलन का आकार धारण करना शुरू कर दिया। मैं उन दिनों यह भी कहा करता था कि हमें सत्ता हाथ में लेने अथवा सत्ता पर कब्जा करने में यानी 'कैप्चर ऑफ पावर' में कोई दिलचस्पी नहीं है, हमारी दिलचस्पी तो सत्ता पर अपना अंकुश बनाये रखने में है, यानी 'कंट्रोल ऑफ पावर' में है, और यह अंकुश भी लोगों द्वारा रखा जाने वाला अंकुश है, 'एण्ड दैट

**सर्वांदय जगत**

टू बाय दि पीपुल।' मैं इस बात का प्रतिपादन करता था कि राज्यशक्ति पर लोक-शक्ति का अंकुश रहना चाहिए। इसी के साथ मैं लोगों को संपूर्ण क्रांति की बात भी समझाता रहता था।

आंदोलन के संदर्भ में एक और मुद्दा यह है कि ऐसा लोक-आंदोलन संबंधित सरकारों के सहयोग से भी चल सकता है। लोक-आंदोलन की कल्पना में सरकार के साथ संघर्ष अनिवार्य नहीं है। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित सरकार आंदोलन के साथ कैसा व्यवहार करती है।

**लोक-शक्ति के निर्माण में सत्याग्रह का उपयोग :** इस आंदोलन में शामिल होने वालों को मैं यह भी समझाता रहता था कि इसमें हमें सत्याग्रही की भूमिका के साथ ही काम करना है। सत्याग्रह का एक निहित अर्थ यह है कि सत्याग्रही का अपना आंतरिक परिवर्तन होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जो दूसरों में परिवर्तन लाना चाहते हैं, उन्हें पहले अपने आप में जरूरी परिवर्तन कर लेना है। इसके बाद ही उनको किसी भी प्रकार के सत्याग्रह ही दिशा में अपना कदम रखना चाहिए। किन्तु जिस तरह गांधीजी ने सत्याग्रह के शस्त्र का उपयोग लोक-शक्ति उत्पन्न करने में किया था, उसी तरह हमें भी अपने इन आंदोलनों में करना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि लोक-शक्ति का निर्माण करना है तो लोगों को इस बात का विश्वास हो जाना चाहिए कि आज जिन कुछ समस्याओं के कारण वे त्रस्त हैं, उन समस्याओं को समाप्त करने के लिए, उनके हल खोजने के लिए, कुछ काम किया जा रहा है। तभी लोग उसे अपना आंदोलन समझेंगे और उसमें शामिल होंगे। बाद में इस लोक-शक्ति को संगठित करना होता है।

संक्षेप में, असल सवाल यह है कि इस समाज के समूचे कलेवर में परिवर्तन किस प्रकार से लाया जाये? जिसे मैं संपूर्ण क्रांति कहता हूँ, उसके श्रीगणेश का मार्ग कौन-सा है? संपूर्ण क्रांति के लिए किये जाने वाले

कठिन परिश्रम में ऐसे लोक-आंदोलन स्वयं अपनी कितनी और कैसी भूमिका निबाह सकते हैं? इन सारे प्रश्नों की सूक्ष्म छानबीन होती रहनी चाहिए।

**क्रांति-कार्य में आंदोलन का स्थान :** मेरा अपना ख्याल यह है कि राष्ट्र के जीवन के किसी भी क्षेत्र में क्रांतिकारी परिणाम प्राप्त करने हों, तो उसके लिए हमें विविध प्रकार के साधनों का उपयोग करना होगा। उदाहरण के लिए, लोक-शिक्षण, अर्थात् समझाइश की मदद से दबाव लाकर, आम जनता का अपना आंदोलन चलाकर, दबाव का उपयोग करके, आवश्यकता पड़ने पर असहयोग द्वारा नागरिकों के विरोध-प्रदर्शनों द्वारा और सविनय अवज्ञा के आंदोलन द्वारा दबाव लाकर काम पूरा किया जा सकता है। लेकिन लोक आंदोलन के संदर्भ में एक मुद्दा यह भी है कि इस प्रकार का आंदोलन निरंतर चलता रहना चाहिए। क्योंकि आखिरकार जब तक लोगों का अपना अभिक्रम नहीं जागेगा, तब तक दूसरी किसी भी रीति से समाज का नवनिर्माण संभव नहीं हो पायेगा। स्थिति ऐसी बननी चाहिए कि लोग अपना जीवन और अपना भविष्य अपने हाथों गढ़ सकें, और लोग खुद ही अपना काम करने वाले बन सकें। किन्तु देखा यह गया है कि ऐसी लोक-शक्ति कभी-कभी लोक आंदोलन के स्वरूप में प्रकट होती है और तब वह समाज को अवश्य ही आंदोलित करती है। लेकिन बहुधा यह सब तात्कालिक ही होता है। इतना करके सब समाप्त हो जाता है। उसकी प्रक्रिया निरंतर चल नहीं पाती। मैं तो एक निरंतर क्रांति देखना चाहता हूँ। मनुष्य के अंदर जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उससे प्रेरणा प्राप्त करके क्रांतिकारी परिवर्तन बराबर होते रहें। इसके लिए लोक-शक्ति केवल लोक-आंदोलन के ही स्वरूप में नहीं, बल्कि किसी-न-किसी संगठन के स्वरूप में भी प्रकट होनी चाहिए। क्रांतिकारी लोक-शक्ति के निर्माण के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। □

1-15 जून, 1917



## सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष का पत्र राज्य भूदान बोर्डों/समितियों के नाम

जैसा की आप जानते हैं कि आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में सर्व सेवा संघ ने जो आन्दोलन चलाया उसके फलस्वरूप देशभर में करीब 48 लाख एकड़ जमीन भूदान में मिली। यह एक नई क्रांति की शुरुआत थी। मांगने से जमीन मिल सकती है इसका किसी को अंदाज नहीं था।

भूदान की जमीन का उचित वितरण हो इस दृष्टि से उस समय करीब-करीब सभी राज्यों में भूदान अधिनियम बने। भूदान की जमीनों के वितरण के कार्य शुरू हुए, पर आज भी करीब 50% भूदान जमीन का वितरण बाकी है। यह कोई शुभ संकेत नहीं है। यहां मैं कुछ खास बिन्दुओं पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ :

1. वर्षों तक भूदान के समन्वय का कार्य सर्व सेवा संघ ही करता था। देशभर के सभी संबंधित आंकड़े आज भी हमारे कार्यालय में सुरक्षित हैं।
  2. भूदान अधिनियमों में आचार्य विनोबा भावे या उनके नामित की अनुसंशा पर भूदान बोर्ड/समिति बनाने का प्रावधान है।
  3. 8 जनवरी 1973 को आचार्य विनोबा भावे ने अपना यह अधिकार सर्व सेवा संघ को दे दिया। उसके बाद सर्व सेवा संघ की अनुसंशा पर भूदान बोर्ड/समितियां बनती रहीं।
  4. कुछ राज्यों में सीधे सर्व सेवा संघ की अनुसंशा पर भूदान बोर्ड समिति बनाने का प्रावधान है।
  5. भूदान की जमीन न तो बेची जा सकती है, न गिरवी रखी जा सकती है और न ही इसका किसी अन्य कार्य के लिए उपयोग किया जा सकता है।
  6. भूदान बोर्डों/समितियों के पैसों का उपयोग भूदान संबंधी कार्यों के लिए ही करना चाहिए। यथा भूदान की जमीनों के विकास, सिंचाई, भूदान किसानों की कानूनी सहायता, प्रशिक्षण, भूदान किसानों का संगठन आदि।
  7. जब विनोबा जी की अनुसंशा पर भूदान बोर्ड/समितियां बनती थी, तब इसकी सारी प्रक्रिया सर्व सेवा संघ करता था, सिर्फ हस्ताक्षर विनोबा जी का होता था।
- भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने (बेंच : न्यायमूर्ति जी.एल.ओझा व न्यायमूर्ति के.जे. शेट्टी) अपने 9 सितम्बर 1988 के फैसले में कहा है :
- "In view of the scheme of Bhoodan Yagna the movement which Acharya

Vinoba Bhave and later Jaya Prakash Narayan carried out and the purpose of the movement clearly indicated that when in Sec.14 allotment was contemplated in favour of landless persons it only meant those landless persons whose main source of livelihood was agriculture and who were agriculturists residing in the village where the land is situated and who were agriculturists residing in the village where the land is situated and who was no land in their name at that time.

- It never meant that all those rich persons who are residing in the cities and have properties in their possession but who are technically landless persons as they did not have any agricultural land in their name in the tehsil or the village where the land was situated or acquired by the Bhoodan Samiti that it could be allotted in their favour. This was not the purpose or the philosophy of Bhoodan Yagna.
- Bhoodan Yagna scheme only contemplated allotment of lands in favour of those landless agricultural labourers who were residing in the village concerned and whose source of livelihood was agriculture.
- The fundamental principle of the Bhoodan Yagna movement is that all children of the soil have an equal right over the Mother Earth, in the same way as those born of a mother have over her. It is, therefore, essential that the entire land of the country should be equitably redistributed anew, providing roughly at least five acres of dry land or one acre of wet land to every family."
- इस निर्णय के बावजूद भूदान की जमीन भूमिहीनों के सिवाय किसी अन्य को देना सर्वोच्च न्यायालय का अपमान है।
- बिहार सरकार ने 16 जून 2006 को देवब्रत बंधोपाध्याय की अध्यक्षता में भूमि सुधार आयोग का गठन किया था। इस आयोग ने अपने 'Interim Report on some issues Relating to Bhoodan in Bihar' में कहा है :

"The most astounding feature of this report was that 11,130.9375 acres were distributed among 59 institution. The categorization of 'सार्वजनिक एवं अन्य' is totally vague and confusing from the analysis it is apparent that someone is utilizing the Bhoodan land as his or her Zamindari.

- Jan Sunwais held in different part of the state it is one of the major causes of social tension, which might aggravate itself into social unrest."
- आरंभिक काल में एक परिवार को कई एकड़ जमीन दी जाती थी। आज जब जनसंख्या अधिक हो गयी है तब भूमि का वितरण इस प्रकार करना चाहिए कि अधिक से अधिक लोग इससे लाभान्वित हो सकें।
- ऐसी भूमि जिसे किसी भूमिहीन को आवंटित की गयी हो, उसे यदि सरकार अधिग्रहित करती है तो उसके पैसे व्यवस्था खर्च काटकर उस आदाता को दी जानी चाहिए या उसे नयी भूमि खरीदकर देना चाहिए, जिसके नाम भूमि आवंटित ही की गयी हो।
- हमारे ध्यान में यह बात भी आयी है कि एक ही जमीन को कई लोगों को आवंटित की गयी है। यह भयंकर लापरवाही का नमूना है। जहां भी ऐसी घटना घटी हो वहां इसे यथाशीघ्र ठीक किया जाना चाहिए। ऐसी घटनाओं से भूदान बोर्डों/समितियों की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।
- यदि किसी विशेष परिस्थिति में भूदान की जमीन को किसी दूसरी जमीन से बदलना पड़े तो वह भूमि के आकार के अनुसार नहीं बल्कि भूमि के मूल्य के अनुसार हो। जैसे 1 एकड़ जमीन की किसी जगह पर कीमत 5 लाख रुपये प्रति एकड़ है तो दूसरी जगह 25 लाख रुपये प्रति एकड़।
- किसी आदाता को भूदान की जमीन आवंटित करने के बाद सरकारी रिकॉर्ड में भी उस भूदान किसान का नाम दर्ज हो जाये, यह देखने की विशेष जिम्मेवारी भूदान बोर्डों/समितियों की है।
- 2019 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी एवं माता कस्तूरबा की 150वीं जयन्ती आ रही है। हमें यह लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए कि 2 अक्टूबर 2019 तक भूदान की सभी भूमि का वितरण भूमिहीनों में हो जाये।
- आशा है आप उक्त सभी मुद्दों पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे तथा तदनुसार अपने क्षेत्र में शीघ्र और आवश्यक कार्रवाई करेंगे।
- शुभकामनाओं के साथ ! -महादेव विद्रोही